समता कथा माला पुष्पांक-7

बुद्धि कभी हारती नहीं

आचार्यश्री नानेश

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❖ **समता कथा माला पुष्पांक-*7***

❖ **बुद्धि कभी हारती नहीं**

❖ **आचार्य श्री नानेश**

❖ **प्रथम संस्करण: सितम्बर, *2010, 3100* प्रतियाँ**
द्वितीय संस्करण: अप्रेल, *2012, 1100* प्रतियाँ

❖ **मूल्य : *10/-***

❖ **अर्थ-सहयोगी :**
स्व. श्री रतनलालजी गुलगुलिया परिवार
देशनोक-कोलकाता

❖ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग
श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड़,
बीकानेर-334401(राज.)
फोन: *0151-2270261, 3292177, 0151-2270359 (Fax)*
visit us : www.shriabsjainsangh.com
e-mail : absjsbkn@yahoo.co.in

❖ आवरण सज्जा व मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
दूरभाष : *9314962475*

प्रकाशकीय

महिमा मण्डित स्व. आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के रतलाम चातुर्मास में सन् 1988 में उन्हीं के तत्वावधान में जैन सिद्धांत विश्वकोष का लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ। उसी के कथा खण्ड में अनेक कथाओं का भी संयोजन हुआ है। कुछ तकनीकी स्थितियों से उक्त कोष का प्रकाशन कार्य अब तक संभव नहीं हो पाया। कथा से आबाल वृद्ध को सात्विक प्रेरणा प्राप्त होती है। हर वर्ग उसे रूचि से पढ़ता है। इसलिए कोष में संयोजित कथाओं के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। इस लेखन- सम्पादन में श्री शांतिलालजी मेहता कुम्भागढ़, चित्तौड़गढ़ के अथक परिश्रम को भी नहीं भुलाया जा सकता।

उपरोक्त पुस्तक समता कथा माला पुष्पांक-7 **बुद्धि कभी हारती नहीं** के रूप में आप सभी के समक्ष प्रस्तुत है। जिसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर रहे है।

इस पुस्तक के प्रथम व द्वितीय दोनों संस्करणों के मुद्रण में अर्थ सहयोगी के रूप में स्व. श्री रतनलालजी गुलगुलिया, परविार देशनोक-कोलकाता ने जो सहयोग प्रदान किया है। उसके लिये संघ आपके परिवार का आभारी है।

राजमल चौरड़िया
संयोजक - साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अर्थ सहयोगी

भारत की पुण्यधरा पर अनेक मनुष्यों का जन्म होता है और वे मनुष्य अपना आयुष्य पूर्ण कर आगे की यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं लेकिन उन मनुष्यों में उन्हीं का जीवन श्रेष्ठ है जो अपनी जीवन बगिया के साथ-साथ अन्यों के जीवन को भी अपनी सुरभि से महका देते थे। उन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों में से एक विशिष्ट व्यक्तित्व थे स्व. श्री रतनलालजी गुलगुलिया। आपका जन्म दिनांक 29 अक्टूबर, 1947 को बीकानेर जिले के शक्तिधाम देशनोक में पिता स्व. सेठ श्री फतेहचन्दजी गुलगुलिया एवं माता स्व. श्रीमती भीखीदेवी गुलगुलिया के घर-आंगन में ज्येष्ठ पुत्र के रूप में हुआ था। आपके माता-पिता ने बचपन से ही आपको सुसंस्कारों का खजाना प्रदान किया। जिसके फलस्वरूप आपने अतुल ख्याति प्राप्त की और आपको माता-पिता का अंत:करण से आशीर्वाद सदैव ही मिलता रहा।

आपका सम्पूर्ण जीवन अपने माता-पिता की तरह सादगी, मिलनसारिता, शांत स्वभाव के गुणों से भरा हुआ था। दया, करुणा, वात्सलय आपके जीवन के अभिन्न अंग थे। आपने सदैव ही अपने माता-पिता की आज्ञा का अक्षरश: पालन किया और यही गुण आपके जीवन उन्नयन का कारण रहा। आपके तीन भाई ओर चार बहिन भी सुसंस्कारों से ओत-प्रोत है। आपका शुभ विवाह श्रीडूंगरगढ़ निवास श्री इन्दरचंदजी छाजेड़ की सुपुत्री कमलादेवी के साथ दिनांक 4 फरवरी, 1965 को हुआ। धर्मपत्नी शब्द को सार्थक करते हुए श्रीमती कमलादेवी आपके सम्पूर्ण परिवार का नाम रोशन कर रही है। साथ ही पूरे परिवार को सुसंस्कार प्रदान करने में आपका महत्वपूर्ण सहयोग रहा है।

श्री रतनलालजी सदैव ही ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा, परिश्रम इन गुणों के प्रति समर्पित रहे। आप जब कक्षा 10वीं में अध्ययनरत थे तभी परिवार के ऊपर भारी विपदा आई आपका जो व्यापार मौलवी बाजार और श्रीमंगल में था जो कि अब बंगलादेश में है, अचानक विशेष परिस्थितियों के कारण हाथों से निकल गया। तब आपने पढ़ाई छोड़कर सन् 1962 में मात्र 15 वर्ष की आयु में सिलचर (आसाम) में पारिवारिक व्यापार मैसर्स रावतमल प्रेमसुख को संभाला। आपने व्यापार में पूरी मेहनत, लगन, इच्छाशक्ति के साथ कार्य किया। फलस्वरूप आपका व्यापार दिन दुनी रात चौगुनी प्रगति करता गया।

आप शिक्षा के प्रति भी पूर्णतया समर्पित थे, इन विपरित परिस्थितियों में भी आपने शिक्षा को नहीं छोड़ा और रात्रि कॉलेज में पढ़ते हुए बी-कॉम तक की शिक्षा ग्रहण की। आपका अधिकांश व्यवसाय मिजोरम में होता था जहाँ पर शाकाहारी खाने की बहुत तकलीफ रहती थी लेकिन फिर भी आपने कभी भी अपने धर्म को नहीं छोड़ा एवं शाकाहार के प्रति दृढ़-संकल्पी बने रहे। सन् 1988 में आपके पिताजी और सन् 1995 में आपकी माताजी का स्वर्गवास होने के पश्चात् परिवार का सम्पूर्ण दायित्व आपके कंधों पर आ गया। आपने सम्पूर्ण समता भाव के साथ परिवार का कुशलतापूर्वक संचालन किया।

आप समता विभूति आचार्य श्री नानालालजी म.सा. एवं वर्तमान आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलालजी म.सा. के प्रति अटूट श्रद्धानिष्ठ सुश्रावक रत्न थे। आपका सम्पूर्ण परिवार भी देव, गुरु एवं धर्म के प्रति पूर्णत: समर्पित है। श्रद्धा, निष्ठा एवं आस्था आपके जीवन के अभिन्न अंग है। आपके जीवन में धार्मिकता एवं सामाजिकता

के गुण विशेष रूप से समाहित है। सन् 2000 में आपने सम्पूर्ण व्यवसायिक कार्यो से निवृति लेकर जीवन के अंतिम समय तक अपने जीवन को धर्म कार्यों में निरन्तर लगाये रखा। दिनांक 19 फरवरी, 2012 को जन्मस्थली देशनोक में आपका देहावसान हो गया। जो आपके सम्पूर्ण परिवार के लिये अपूरणीय क्षति हुई है। आपके संस्कारवान परिवार में तीन सुपुत्र सर्वश्री प्रकाशकुमार-पूर्णिमादेवी, किशोरकुमार-सज्जनदेवी, सुशीलकुमार-रेखादेवी, पौत्र अरिहंत, मुदित, रौनक एवं पौत्रियाँ रीना, शालू, दिव्या, मीनल आपके ही दिखाये हुए मार्ग पर आगे बढ़ रहे है। आपके छोटे भाई श्री तारकेश्वर-शारदादेवी, किरणचंद-संजुलादेवी, महावीरचंदजी-वीणादेवी गुलगुलिया एवं बहिनें किरणादेवी-केशरीचंदजी लुणिया, चम्पादेवी-स्व. श्री हुलासमलजी बोथरा, तारादेवी-स्व. डालचंदजी हीरावत एवं सीता देवी-बहादुरमलजी मुणोत भी धर्मनिष्ठ व्यक्तित्व के धनी है। आपके तीनों सुपुत्र आपके कोलकाता का व्यवसाय सफलतापूर्वक संचालित कर रहे हैं। जिन्होंने आपकी स्मृति में उपरोक्त साहित्य का मुद्रण हेतु अपनी सहज स्वीकृति प्रदान की है।

सम्पूर्ण परिवार एकसूत्र में सुसंस्कारों के साथ वट-वृक्ष की भांति लहलहा रहा है।

अनुक्रमणिका

तालपुट विष खा लिया	:	9
मनमोहक मोदक	:	19
बुद्धि कभी हारती नहीं	:	26
भात-पानी का विच्छेद	:	38
मयूर का मनोरम नृत्य	:	45
मुनि, मृग एवं रथकार	:	53
तप्त शिलाखंड पर	:	60
न खाओ नन्दी फल	:	70
एक-एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ	:	78
गूंगे का गुड़	:	88
अरणि में अग्नि की खोज	:	97

तालपुट विष खा लिया

कहावत है कि आने वाली घटनाएँ पहले से अपनी छाया फैंक देती हैं, जिनके संदर्भ में उनके रूप-स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसी ही एक वीभत्स छाया का अनुभव किया महारानी चेलणा ने। वह राजगृह की महारानी थी और मगध सम्राट श्रेणिक (ऐतिहासिक नाम बिम्बसार) की धर्मपत्नी। उसने एक बार सिंह का स्वप्न देखा। यह उसकी कुक्षि में किसी पराक्रमी जीव के उत्पन्न होने का संकेत था।

किन्तु यह गर्भस्थ बालक कैसा होगा- यही चिन्ता महारानी को खाए जा रही थी। उसके गर्भकाल में चेलणा को दोहद उत्पन्न हुआ कि वह अपने पति के कलेजे का मांस खावे। जिस बालक के गर्भ में आने से उसकी माता को ऐसा बुरा दोहद पैदा हो, भला उससे क्या उसके भावी स्वभाव एवं कार्यकलापों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है? आने वाली

घटनाओं की यह कैसी वीभत्स छाया है? क्या इसे महारानी सह सकेगी? पर भवित्तव्यता को कौन टाल सकता है। ठीक समय पर राजकुमार का जन्म हुआ और नाम रखा गया कोणिक।

कोणिक के लालन-पालन में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता गया, किन्तु कुसंस्कारों की कालिका उस पर छाई रही। उसने वे सुसंस्कार नहीं पकड़े जो राजा श्रेणिक के पुत्र के अनुरूप हों। युवा हो जाने पर कोणिक का विवाह आठ सुन्दर राजकन्याओं के साथ कराया गया और वह उन्हीं के राग-रंग में डूब गया, यह भूलकर कि एक राजकुमार के क्या कर्त्तव्य होते हैं।

कर्त्तव्यों से अवश्य विमुख बना रहा मगध का पट्टधर राजकुमार, परन्तु अधिकारों की सुध उसे समय से बहुत पहले ही आ गई। उसकी सत्ता लोलुपता, उसकी मिथ्यावादिता एवं उसकी अहंकार भरी धृष्टता त्वरित गति से भड़कने लगी। वह रात-दिन यही सोचा करता- कब बनेगा वह मगध सम्राट् और अपने वर्चस्व का डंका कब बजायेगा? उसके पिता अतिशय वृद्ध होने को आये हैं, फिर भी मरने के लक्षण कहाँ हैं? उनके मरण से पूर्व कैसे हो सकता है उसका

सिंहासनारोहण? यों तो वह प्रतीक्षा करता ही रहेगा और न जाने कब तक शासन की बागडोर सम्हाल पायेगा? क्या करे वह और कैसे बने जल्दी से जल्दी मगध साम्राज्य का प्रभावशाली शासक? वह अधीर रहने लगा।

अधीरता आदमी को बेचैन बनाती है और बेचैन आदमी उतावला भी होता है तो विवेकशून्य भी। उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान नहीं रहता। एक ही धुन रहती है कि कैसे वह अपने वांछित लक्ष्य को प्राप्त कर ले? कोणिक के पागल मन की भी ऐसी ही दशा हो रही थी। श्रेणिक जब तक स्वस्थ और जीवित रहेंगे, तब तक उसे राज्य कैसे प्राप्त हो सकेगा? क्या तब तक वह प्रतीक्षा ही करता रहे? वह और प्रतीक्षा नहीं कर सकता। वह कुछ न कुछ ऐसा ठोस उपाय करके ही रहेगा कि वह पिता की मृत्यु से पूर्व ही मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हो सके। वह यही उपाय सोचता रहा।

बुद्धि की जैसी दिशा होती है, वैसा ही उपाय खोजा जाता है। तो कोणिक को भी यही उपाय सूझा कि वह पिता को जीवित ही बन्दी बनाकर कारागार में डाल दे तथा राज्य हथियाकर बलात् सिंहासन पर बैठ

जाये। दुर्बुद्धि ने उसी उपाय को आजमा लिया और इस प्रकार कोणिक मगध राज्य का शासक बन बैठा। उसने इस तथ्य पर तनिक भी विचार नहीं किया कि वह अपने उस पिता के साथ कैसा दुर्व्यवहार कर रहा है, जिसने उसे हृदय का समस्त प्रेम दिया और उसे पूरी परवाह से पाला-पोसा। राज्य के लालच और अपने अहंकार के आवेश में वह अंधा बन गया।

महाराजा श्रेणिक बन्दी बना दिये गये। अपने विश्वस्त क्रूर सैनिकों का पहरा था उन पर, जो उनकी प्रत्येक गतिविधि पर कड़ी नजर रखते थे। बाहर का कोई भी व्यक्ति उनसे नहीं मिल सकता था। यहाँ तक कि बिना उसकी अनुमति के उसकी माता भी अपने पति से नहीं मिल सकती थी। कलेजे के मांस को खाने के दोहदवाला कोणिक अब सचमुच में श्रेणिक के कलेजे का मांस ही खा रहा था।

कोणिक की अधिकार लिप्सा, दंभी वृत्ति एवं निष्ठुरता ने सीमा पार कर ली थी। एक पुत्र का अपने ही पिता के साथ ऐसा अनैतिक, निकृष्ट एवं घातक व्यवहार- क्या कहें ऐसे पुत्र को? किन्तु ऐसे दुष्ट पुत्र की माता के मन की कैसी दुर्दशा होगी उसका अनुमान भी कष्टसाध्य होगा। चेलणा को महारानी नहीं रहने

दिया, किन्तु क्या वह अपने को राजमाता मानने की कल्पना भी कर सकती थी? वह तो एक विवश पत्नी रह गई थी जो अपने ही पुत्र से अपनी पति की रक्षा तक नहीं कर पा रही थी। वह पश्चात्ताप की आग में जलती रहती कि क्या उसे ये ही दिन देखने थे। वस्तुतः जिसका पति कारागार में बन्दी बने बैठे हों तो उसकी पत्नी क्या एक पल के लिये भी चैन की सांस ले सकती है? वह सदा खेदग्रस्त बनी रहती।

परिवर्तन इस संसार का और इस सांसारिक जीवन का प्रधान लक्षण माना गया है। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति भी बदलता है- सुधरता है। कैसी भी दुष्टता असाध्य नहीं होती और इसी कारण सुधार की आशा कभी भी लुप्त नहीं होनी चाहिये। प्रत्येक के जीवन में ऐसा क्षण अवश्य आता है, जब उसके परिवर्तन की संभावना स्पष्ट बन जाती है। हृदय का परिवर्तन होता है तो उसकी कृति भी बदल जाती है। ऐसा ही परिवर्तन आया एक दिन कोणिक के हृदय में भी। हुआ यों कि एक बार कोणिक भोजन कर रहा था। उसके पुत्र उदायी ने थाली में मूत्रोत्सर्ग कर दिया। इस पर कोणिक कुपित नहीं हो बालक उदायी का प्रेमालिंगन किया। उसी प्रसंग से उसने माता चेलणा से पूछा- माँ

जितना प्रेम मेरा पुत्र पर है क्या उतना प्रेम अन्य किसी पिता का पुत्र पर तुमने जाना है।

चेलणा फूट पड़ी रोष से, दु:ख से। वह रह न सकी। उसने वह सबकुछ सुना दिया जो उसके गर्भकाल में दोहद के समय घटित हुआ था और वह भी कि सबकुछ जानकर भी उसके महान् पिता ने कितना प्रेम दिया था अपने उस पुत्र के लिये। वह सोचे कि उसी पिता के लिये उसने क्या किया है। अतीव दु:खानुभव से वह रो पड़ी, कहने लगी- कोणिक, मुझे लज्जा लगती है कि मैं तुम्हें अपना पुत्र कहूँ या मानूं। तुमने मेरी कोख को कलंकित ही किया है। क्या तुम्हें अब भी अपने किये का कोई पश्चात्ताप नहीं है? क्या तुम्हारे पिता मृत्युपर्यन्त बन्दी ही बने रहेंगे? तुमने माता-पिता के मन को कभी नहीं पहचाना, अपने पिता की महानता का कभी मान नहीं किया- कैसा बना है तुम्हारा मन? मैं कुछ नहीं समझ पाती हूँ।

बस करो माता बस करो, मैंने बहुत पाप किया है, पर अब नहीं करूंगा और किये का प्रायश्चित्त करूंगा। मैं कृतघ्न रहा हूँ, नहीं समझा मैंने अपने कर्त्तव्यों को और अधिकारों की लोलुपता से अंधा बन गया था मैं। माँ! मुझे क्षमा कर दो और अपने इस

दुष्ट पुत्र को उसके जीवन परिवर्तन में सहायता दो- कोणिक का स्वर उमड़ते हुए वाष्प से अवरूद्ध हो गया।

पुत्र, क्या यह वास्तविकता है या नये दुष्कृत्य की कोई चाल? कैसे विश्वास करती चेलणा अपने इस पुत्र पर जो नित नई चालें चलता आ रहा था।

मैंने अति कर ली है माँ, अब और नहीं। मैं इसी समय स्वयं जा रहा हूँ पिताश्री को कारागार से मुक्त करने एवं उन्हें पुनः राज सिंहासन पर अधिष्ठित करने कहता हुआ कोणिक वहाँ से सचमुच चल ही पड़ा। तब माता को उसके सद्भाव में कोई शंका न रही। कोणिक के अन्तःकरण का राक्षस मर चुका था और वहाँ एक देवता होकर उसके समूचे जीवन को रूपान्तरित कर रहा था।

चलते हुए कोणिक के पांव इसी कारण दौड़ने लगे कि कितनी जल्दी पहुँचकर वह अपने पिता को कारागार से मुक्त करे? स्वयं सम्राट कारागार की ओर दौड़े चले आ रहे हैं- प्रहरियों में हड़कम्प मच गया। चारों ओर एक आतंक-सा छा गया और सभी सोचने लगे कि अब न जाने कौनसा भूचाल उठेगा महाराजा श्रेणिक के लिये? क्या यह भूचाल उनके जीवनान्त का संकेत तो नहीं कर रहा? सभी सहमें और डरे हुए थे।

श्रेणिक ने भी उस हड़कम्प को सुना। उनका मन आशंका से भर उठा कि उनका यह दुष्ट पुत्र अब उनके साथ क्या करेगा? बन्दी तो वे हैं ही, अब तो मृत्यु का वरण ही उन्हें दिखाई देता है- एक पुत्र के हाथों उसके पिता की मृत्यु। कितना दुःखद अन्त होगा उनके श्रेष्ठ जीवन का?

तभी उन्हें सामने से आता हुआ कोणिक दिखाई दिया- बेसुध-सा चेहरा, लड़खड़ाते हुए पांव और कारागार का फाटक खोलने के लिये चाबियाँ झुलाते हुए उतावले हाथ। उसकी उस बदहवासी का वे इसके सिवाय क्या अनुमान लगाते कि वह अपने हाथों उनकी जीवन लीला समाप्त कर देने के लिये पागल बना हुआ आ रहा है? तो यकायक उनका निश्चय बना कि वे इस दुष्ट के हाथों नहीं मरेंगे- यह उनके जीवन का अपमान होगा।

इधर जीवन सुधार के लिये उतावले हाथों ने कारागार के फाटक की चाबी घुमाई और उधर जीवन विकास के प्रतीक हाथों ने अपनी अंगूठी में छिपाया हुआ तालपुट विष बाहर निकाल लिया। मुक्ति का फाटक खुला कि श्रेणिक ने तालपुट विष खा लिया और वे तत्क्षण प्राणमुक्त हो गये।

कोणिक का उफनता हुआ हृदय हाहाकार कर उठा। पिता को मुक्त करके सिंहासनासीन करना तो दूर- वह अपने जीवित पिता के चरण छूकर क्षमायाचना भी न कर सका। पश्चात्ताप की अग्नि में वह सदा जलने के लिये ही रह गया- उसको शीतल करने का कोई उपाय न रहा। वह बिलख-बिलख कर रोने लगा- सारा राजपरिवार और नगर रोने लगा, लेकिन कोणिक का रुदन अत्यन्त कारुणिक था- अपने अधिकार मोह और अहंकार की वेदी पर उसने अपने महान् पिता को बलि पर चढ़ा दिया था।

अब पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त के सिवास क्या बचा था? कोणिक अपना सिर पीटता रहा और अपने घृण्य अपराधों पर खेद करता रहा। उसका जीवन बदल रहा था- अहंकार के स्थान पर विनय, स्वार्थ के स्थान पर समर्पण और क्रूरता के स्थान पर सदयता उभर रही थी। वह बदल जाना चाहता था पूरी तरह। वह एक नये ही व्यक्तित्व को लेकर खड़ा होना चाहता था। उसने साम्राज्य की सुव्यवस्था की, उसे अपने सभी भाईयों में विभाजित कर दिया तथा सबकुछ त्याग कर चम्पा नगरी में एकाकी रहने लगा।

तभी चम्पागनरी में भगवान महावीर का पदार्पण

हुआ। कोणिक भी उनका दर्शन करने गया। उसने भी धर्मदेशना सुनी। भगवान फरमा रहे थे- यह जीवन जल के बूंद-बूंद के समान होता है, कुशाग्र पर ठहरी ओस की बूंद के समान होता है, जो हल्के से हवा के झोंके से फूटकर-गिरकर नष्ट हो जाता है। इस नश्वर जीवन को अनश्वर बनाने के लिये इसमें शुभ परिवर्तन लाओ।

और कोणिक सचमुच में धर्म पथ पर समर्पित हो गया, अपने अंधकारमय जीवन में प्रकाश को भर लेने के लिये।

स्रोत- औपपातिक सूत्र त्रिषष्टिश्लाका पुरुषचारित्र।

सार- परिवर्तन को जीवन धर्म बनाओ, अशुभता से शुभता की दिशा में अग्रसर बनने के लिये।

❖ ❖ ❖

मनमोहक मोदक

पधारिये मुनिवर! मेरा अतीव सौभाग्य कि आप मेरे यहाँ भिक्षार्थ पधारे- कहते हुए महाराज वसुदेव की धर्मपत्नी एवं वासुदेव श्रीकृष्ण की माता महारानी देवकी ने दो सुदर्शनीय युवा मुनियों की अभ्यर्थना की।

वे दोनों मुनि अतीव स्वरूपवान एवं सौम्य थे- एक-सी गौरवर्ण मुखाकृति, तेजस्विता एवं प्रभाविकता, जैसे किसी सौभाग्यशालिनी माता ने उन्हें युगल रूप में ही जन्म दिया हो। उन्हें देखते ही देवकी को अकल्पनीय हर्ष हुआ एवं उसके हृदय में ऐसा घनिष्ठ अनुराग उत्पन्न हुआ जैसे वे उसके ही पुत्र हों। उसके पांव जैसे धरती पर नहीं पड़ रहे थे, हर्षातिरेक से उसने उन दोनों का श्रेष्ठ रीति से सम्मान किया, उन्हें वह भीतर ले गई और ताजा बने स्वादिष्ट मोदक भिक्षा में दिये। वे मुनि गवैषणायुक्त वह भिक्षा लेकर यथास्थान चले गये।

थोड़ी देर बाद ठीक वैसे ही दो मुनियों का सिंघाड़ा भिक्षा हेतु वहाँ उपस्थित हुआ। वे दोनों मुनि भी वैसे ही स्वरूपवान एवं सौम्य थे। देवकी को उनके प्रति भी वैसा ही प्रगाढ़ अनुराग उत्पन्न हुआ- हर्ष हुआ। उसने उनकी भी वैसी ही अभ्यर्थना की, वैसा ही सम्मान किया और वे ही स्वादिष्ट मोदक उन्हें भी भिक्षा में दिये। किन्तु उसके मन में शंका का एक छोटा-सा बीज पैदा हुआ कि वे ही मुनि पुनः भिक्षार्थ क्यों आये?

वे दोनों मुनि भी भिक्षा लेकर चले गये, किन्तु कुछ समय पश्चात् भी ठीक वैसे ही दो मुनि भिक्षा हेतु वहाँ पहुँचे। उनका रूप-स्वरूप भी बिल्कुल वैसा ही और वैसी ही सौम्य मुखाकृतियाँ। देवकी को भी वैसा ही आन्तरिक हर्ष उत्पन्न हुआ और उसने उनकी भी वैसी ही अभ्यर्थना की, उनका सम्मान किया तथा उन्हें भी वे ही स्वादिष्ट मोदक भिक्षा में दिये। वह मुनि युगल भी भिक्षा लेकर वहाँ से चलने लगा।

परन्तु देवकी बड़े सोच में पड़ गई। क्या श्रीकृष्ण की द्वारिका में दान की भावना लुप्त हो गई है अथवा साधुओं में स्वाद जय की भावना न रही, जो इन दोनों मुनियों का एक ही घर पर एक ही समय में

तीन-तीन बार भिक्षा हेतु आगमन हुआ है? वह हर्षित तो थी, किन्तु विस्मित भी हुई तथा उसकी जिज्ञासा बढ़ी कि वह इसका रहस्य जाने।

अन्तिम मुनि युगल बाहर निकला ही था कि उसने उनसे निवेदन किया- हे मुनिश्रेष्ठ! आप दोनों थोड़ी-थोड़ी देर में मेरे यहाँ तीसरी बार पधारे- इससे मुझे एक शंका उत्पन्न हुई है, कृपया उसका निवारण करें। या तो इस द्वारिका में धर्मनिष्ठ गृहस्थों का अभाव होने लगा है कि मुनियों को शुद्ध भिक्षा नहीं मिल पाती। इसलिए बार-बार आप यहाँ भिक्षा हेतु उपस्थित हुए हैं। इस में सत्य वस्तुस्थिति क्या है?

यह सुनकर दोनों मुनियों के नैत्र विस्फुरित से रह गये, सौम्य मुख से अति निर्दोष स्वर उभरा- माते! हम दोनों तो भिक्षा हेतु आपके यहाँ पहली बार ही आये हैं। क्या हमारे समान रूप-स्वरूप वाले अन्य मुनि भी भिक्षार्थ यहाँ आ चुके हैं?

देवकी उनसे भी अधिक विस्मित हुई बोली- तो क्या समाकृति एवं समवयस्क अन्य मुनि भी हैं?

हाँ भद्रे! भगवान नेमिनाथ के साथ हम ऐसे छः मुनि हैं। छहों सहोदर भ्राता हैं। हम रूप, वय, आकृति आदि में एकदम समान हैं। संभवतः इसी

कारण आपको भिक्षा के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न हुई होगी। हम दो-दो के तीन सिंघाड़ों में भिक्षा हेतु निकले थे और लगता है कि तीनों सिंघाड़े संयोग से भिक्षा हेतु आपके यहाँ आ गये।

हाँ हाँ मुनिवर, ऐसा ही कुछ हुआ है।

मुझे क्षमा करें मुनिश्रेष्ठ, मुझे तो भ्रान्त धारणा हो गई थी। मैं तो अपने भाग्य तो सराह रही हूँ कि ऐसे श्रेष्ठ मुनियों ने पधारकर मेरे निवास स्थान को पावन बनाया। धन्य है वह माता, जिसने आप जैसे नररत्नों को जन्म दिया। कौन है वह सौभाग्यशालिनी माता?

हम छहों ने भद्दिलपुर के नाग गाथापति के घर माता सुलसा की कुक्षि से जन्म लिया है भद्रे।

यह सुनते ही देवकी को पहले कही हुई एक बात का स्मरण हो आया। पोलासपुर नगर में अतिमुक्त श्रमण ने एक बार उससे कहा था- देवकी! तू अपने जीवन में सुन्दर, सौम्य एवं मनमोहक आठ पुत्रों को जन्म देगी और धन्य बनेगी। वैसा सौभाग्य इस भरत क्षेत्र में अन्य किसी माता को प्राप्त नहीं होगा। वह विचार करने लगी- उन श्रमण की उस भविष्यवाणी का क्या हुआ? मेरे तो दो ही पुत्र हैं, अन्य छः कहाँ है? क्या उनकी वह वाणी मिथ्या सिद्ध हुई? काश!

उसके भी ऐसे छः पुत्र और होते तो वह वास्तव में धन्य हो जाती। धन्य तो हुई है यह सुलसा माता!

विचारों की गहराई में वह अनायास ही उतर गई- ये छहों जब माता सुलसा के पुत्र हैं तो इनके प्रति ऐसा गहरा अनुराग मेरे हृदय में क्यों उत्पन्न हुआ है? ऐसा मुझे क्यों प्रतीत हो रहा है, जैसे ये छहों सुलसा के पुत्र न होकर मेरे अपने पुत्र हों? हृदय की ऐसी विचित्र स्थिति क्यों हो गई है? क्या इसमें कोई रहस्य तो नहीं है? जब भगवान यहाँ विराजित हैं तो मैं अपनी जिज्ञासा का समाधान इन्हीं से क्यों न प्राप्त करूं?

देवकी भगवान नेमिनाथ की सेवा में पहुँची। उसने उन्हें वन्दन-नमस्कार किया और संकोचपूर्वक अपने मन की जिज्ञासा को व्यक्त करना चाहा। किन्तु भगवान तो सर्वज्ञ थे, देवकी के मन की बात जान चुके थे, वे फरमाने लगे- देवकी, तुम्हारे मन की शंका और जिज्ञासा समुचित है तथा तुम्हारे आठ पुत्रों वाली भविष्यवाणी भी सत्य है।

वह रुक न सकी, भाव-विभोर होकर बोल ही पड़ी- भगवन्, तब क्या मेरे अज्ञात छः पुत्र मुझे मिल जायेंगे? मैं उनका मुख-दर्शन कब कर सकूंगी?

देवकी! उन्हें तो तुम देख चुकी हो। तुम्हारे घर

भिक्षार्थ आये रूप, वय, आकृति आदि में एकदम समान छहों मुनि तुम्हारे ही तो पुत्र हैं।

यह सत्य मुझे इतने विलम्ब से ज्ञात हुआ है, प्रभु! ये सुदर्शनीय छः युवा मुनि मेरे ही पुत्र हैं। ये मेरे से छिन क्यों गये भगवन्? मैंने ऐसा क्या पाप किया जो ऐसे छः पुत्रों की बाल-लीला से मैं वंचित रही?

भद्दिलपुर के नाग गाथापति की पत्नी सुलसा मृतवन्ध्या थी और तुम्हारे पुत्रों की कंस से रक्षा का प्रश्न सामने था, अतः हरिणगमैषी देव ने दोनों की सन्तानों का स्थानान्तरण कर दिया, क्योंकि सुलसा सदा हरिणगमैषी देव की भक्ति किया करती थी। उस देव ने प्रसन्न होकर ऐसा किया। तुम और सुलसा एक साथ गर्भधारण करती थी और दोनों के यहाँ सन्तानों का जन्म भी एक साथ होता था। तब वह देव तुम्हारे पुत्र को सुलसा के पास रख देता तथा उसकी मृत सन्तान को तुम्हारे पास ले आता। इस प्रकार तुम्हारे ही ये छहों पुत्र सुलसा के यहाँ जन्मे कहे गये तथा वहीं इनका लालन-पालन हुआ। वास्तविकता यह है कि ये छहों तेरे ही पुत्र हैं देवकी।

अत्यन्त हर्ष भाव से उसने मुनियों का दर्शन किया। आन्तरिक भावनाओं में देवकी के मातृत्व ने

ऐसी उछालें भरी कि उसके स्तनों से वहीं दूध की धारा बह चली- श्वेत सुमधुर दुग्धधारा, जिसे पीकर पुत्र अपनी माता का चिरऋणी बन जाता है और उसके सुसंस्कारों से अपने जीवन का शुभ निर्माण करता है।

माता देवकी के हर्ष का पार नहीं था। वह अतीव विस्मित और अतिशय पुलकित भी। दुग्धधारा का बह निकलना उसी प्रमोद का परिचायक था।

एक कसक बार-बार उसके मन को कुरेदने लगी- वह अपने ऐसे पुत्रों की बाल सुलभ क्रीड़ाओं का आनन्द न ले सकी, उन पर अपने हृदय का दुलार निछावर न कर सकी। उन्हें सुसंस्कारों से सज्जित नहीं कर सकी। मैं अपने मातृत्त्व का कर्त्तव्यपालन नहीं कर सकी। वह राजमहल लौटी तो यह कसक बार-बार उभर रही थी और श्रीकृष्ण जब उसे वन्दन करने आये तो उसी कसक के कारण वह उदास थी। श्रीकृष्ण ने माँ के मन की बात जानकर स्वयं बालरूप धारण किया तथा माँ के मन को आनन्द दिया।

स्त्रोत- अन्तकृतदशांग सूत्र।

सार- माता का ममतामय वात्सल्य पुत्र के लिये दैवी वरदान होता है।

❖ ❖ ❖

बुद्धि कभी हारती नहीं

क्या कहा? उज्जयिनी से राजदूत आया है। बुला लो उसे, कोई न कोई प्रिय सन्देश होगा- राजगृह के राजा श्रेणिक ने दूत को राज्यसभा में ले आने का आदेश दिया।

दूत भीतर आया और उसने अपने मालव-नरेश चंडप्रद्योतन का एक पत्र उनके साढ़ू श्रेणिक राजा को भेंट किया।

राज्यसभा के सदस्य देखते रहे कि ज्यों-ज्यों महाराजा श्रेणिक उस पत्र को पढ़ते जाते थे त्यों-त्यों उनकी त्यौरियाँ चढ़ती जाती थी और पूरा पत्र पढ़कर तो क्रोधावेग से उनका मुँह लाल हो गया। वे गर्जना कर उठे- नीचता की सीमा पार कर दी चंडप्रद्योतन ने। वह मुझसे मांग करता है कि मैं उसे बंकचूड़ हार, सिंचनक गंधहस्ती, महामात्य अभयकुमार एवं महारानी चेलणा को सौंप दूं, अन्यथा धमकी देता है कि वह राजगृह पर आक्रमण पर देगा।

श्रेणिक थोड़ी देर शान्त रहे, फिर दूत की ओर उन्मुख होकर बोले- तुम्हारे राजा को कहना कि वह अपना अग्निरथ, अनिलगिरि हाथी, वज्रजंघ दूत और शिवा देवी को तुरन्त मेरे यहाँ भेज दो। जाओ, तुम चले जाओ और यह संदेश या उत्तर कह देना।

दूत अपनी राजधानी लौट गया और उसने राजगृह का सारा विवरण अपने राजा को सुना दिया। अहंकारी चंडप्रद्योतन ने विशाल सेना लेकर राजगृह पर आक्रमण कर दिया। नगर के बाहर सेना ने पड़ाव डाल दिया तो श्रेणिक चिन्तित हुए और उन्होंने भी अपनी सेना को सज्जित होने की आज्ञा दी। तभी अभयकुमार उनके पास पहुँचा।

अभय, पारिवारिक सम्बन्ध को भी अपमानित करके चंडप्रद्योतन ने ऐसी नीचता की है। अब तो अपनी सेना को युद्ध करना ही होगा- श्रेणिक ने अपनी चिन्ता जताई।

महाराज! जहाँ बुद्धि कार्य सम्पन्न कर सकती है, वहाँ सेना का संहार क्यों कराया जाये? आप सेना को दी गई आज्ञा वापिस ले लीजिये। मैं ऐसी व्यवस्था करूंगा कि चंडप्रद्योतन प्रातःकाल ही यहाँ से चला जायेगा। वह चला जायगा तो फिर उसकी सेना को भी

लौटना ही पड़ेगा- अभयकुमार ने महाराजा को आश्वस्त किया।

पर यह कैसे होगा? क्या वह नीच किसी की भी मानेगा?

राजन्! यह सब आप मुझ पर छोड़ दीजिये। कार्य सम्पन्न करके मैं आप को सबकुछ बता दूंगा।

श्रेणिक को अभय की बुद्धिमानी पर पूर्ण विश्वास था, वे शान्त हो गये।

मौसाजी, मेरे लिये तो आप और पिताजी श्रेणिक समान रूप से पूज्य हैं और मेरा कर्त्तव्य दोनों का हित साधन करना है- अभयकुमार ने चंडप्रद्योतन को उसकी सेना के पड़ाव स्थल पर पहुँचकर निवेदन किया।

सो तो ठीक है, पर तुम कहना क्या चाहते हो, अभय! वही बात साफ-साफ कहो- चंडप्रद्योतन ने वक्र दृष्टि से घूरते हुए पूछा।

तो सुन ही लीजिये। मेरे गुप्तचरों ने बताया है कि आपके सेनाधिकारी आपके साथ विश्वासघात करने वाले हैं। वे लड़ेंगे नहीं और आपको बन्दी बनवा देंगे।

क्या कह रहे हो तुम? यह सरासर झूठ है।

यह पूर्ण सत्य है मौसाजी, पिताजी ने आपके

सभी सेनाधिकारियों को मुँह-मांगा उत्कोच (रिश्वत) देकर अपने वश में कर लिया है। तभी तो उन्होंने अपनी सेना को तैयार होने तक का आदेश नहीं दिया है।

चंडप्रद्योतन का स्वयं का मन भी इस बिन्दु पर आशंकित हो रहा था कि उसकी विशाल सेना ने राजगृह नगर की पूरी घेराबंदी कर रखी है, तिस पर भी राजगृह की सेना की तनिक भी हलचल नहीं दिखाई दी है- अवश्य दाल में कुछ काला है। परन्तु प्रकट में वह अभयकुमार से बोला- अभय! मैं इस बात को मान नहीं सकता। क्या तुम कोई प्रमाण दे सकते हो?

मौसाजी! अभयकुमार की बुद्धि पर तो आपको भी विश्वास है। क्या मैं बिना प्रमाण के आपको ऐसी बात कह सकता हूँ? अभी ही आप चलिये मेरे साथ यहीं आप की सेना के पड़ाव तम्बुओं के ही आस पास।

रात के अंधेरे में दोनों साथ अकेले चल दिये। अभय ने एक-एक सेनाधिकारी के तम्बू के पास भूमि खोदकर स्वर्णमुद्राओं की थैलियाँ निकाल कर दिखा दी। यह व्यवस्था अभय ने अत्यन्त गुप्त रूप से पहले

ही कर दी थी। चंडप्रद्योतन यह देखकर चौकन्ना हो गया और उसे पूरी तरह विश्वास हो गया कि उसके सेनाधिकारी उसके साथ विश्वासघात करने वाले हैं। यह तो भला हो इस अभय का जिसने सारा रहस्य पहले ही खोलकर उसे बचा लिया है। वह हताश होकर अभय से ही पूछ बैठा- तो अब मैं क्या करूं, अभय?

अभय ने सुझाया- पहले अपनी जीवन रक्षा तो कर लीजिये, महाराज। आप तुरन्त इसी समय अश्वारूढ़ होकर उज्जयिनी के लिये प्रस्थान कर दीजिये।

चंडप्रद्योतन को यही उचित लगा। वह रात के अंधेरे में ही चुपचाप एकाकी लौट गया। अभयकुमार ने सन्तोष की सांस ली और श्रेणिक को सबकुछ बता दिया।

प्रात:काल मालव सेना के सारे अधिकारी यह देखकर घबरा गये कि स्वयं उनके महाराज ही युद्ध का विचार छोड़कर उज्जयिनी लौट गये हैं तो उनके सामने भी लौट चलने के सिवाय और क्या चारा है? तब सेना ने उज्जयिनी की ओर कूच कर दी।

उज्जयिनी पहुँचकर जब सारे सेनाधिकारी सरोष अपने राजा चंडप्रद्योतन से मिलने गये तो राजा ने उनसे

मुँह फेर लिया। अनुनय-विनय के बाद राजा ने अपने मन का गुबार निकाल दिया। फिर तो सेनाधिकारियों का रोष भड़क उठा और उन्होंने वास्तविक तथ्यों की जानकारी दी। चंडप्रद्योतन को भली प्रकार समझ में आ गया कि अभय ने उसे इतना बड़ा चक्कर दे दिया। वह क्रुद्ध हो उठा कि अभय को इसका कड़ा सबक सिखाया जायेगा।

उसने घोषणा करवायी कि जो अभयकुमार को पकड़कर लायेगा, उसको बहुत बड़ा ईनाम दिया जायेगा। एक वेश्या ने यह बात स्वीकार कर ली।

उसने तत्काल नगर की एय चतुर वेश्या को बुलावा भेजा। उनके आने पर उनको सारी बात विस्तार से समझाते हुए राजा ने कहा- देखो, सारा मामला तुम्हारी चतुराई पर निर्भर है। कैसे भी हो अभयकुमार को यहाँ लाकर मेरे सामने प्रस्तुत करना है। यह लो पाँच सहस्त्र स्वर्ण मुद्राएँ और इससे दुगुनी बाद में और मिल जायेगी। बहुत होशियारी से करना इस काम को। अभयकुमार की बुद्धि का मुकाबला नहीं है।

आप तनिक भी चिन्तित न हों राजन्! आपने मेरी चतुराई पर विश्वास किया है तो मैं अवश्य ही सफल होऊंगी।

फिर वे वेश्याएँ राजगृह के लिये रवाना हो गई। वहाँ वह एक अति धर्मनिष्ठ श्राविका का रूप धर कर पहुँची। धीरे-धीरे सब ओर धार्मिक कार्यक्रमों में भाग लेते हुए उसने वैसी ख्याति भी अर्जित कर ली। अभयकुमार ने भी उसका उसी रूप में परिचय हुआ। उसका पूर्व परिचय किसी ने जानने की कोशिश नहीं की, पर श्राविका के रूप में उसका सम्मानपूर्व परिचय राजगृह के सभी संभ्रान्त जनों को हो गया। वे अपने चतुर अभिनय पर प्रसन्न थी- सन्तुष्ट भी। तब उसने उसे चंडप्रद्योतन द्वारा सौंपे गये कार्य को कुशलतापूर्वक पूरा करने का निश्चय कर लिया।

एक दिन उसने अभयकुमार को अपने यहाँ भोजन हेतु आमंत्रित किया। उसने भी श्राविका की दृष्टि से निमंत्रण स्वीकार कर लिया। वेश्याओं ने भोज्य पदार्थों में कुछ ऐसा मादक द्रव्य मिलवा दिया कि जिससे खाने वाला कुछ ही समय में संज्ञाहीन बन जाये। अभयकुमार ने भोजन किया और वह अपना होश खो बैठा। रथ में उसे डालकर वेश्याएँ उज्जयिनी पहुँची और अभयकुमार चंडप्रद्योतन के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया।

बोलो अभय! अब तुम्हारे साथ क्या किया

जाये? तुमने मुझे चक्कर दिया, अब तुम भी सवा चक्कर खा गये न? पकड़ मंगवाया न मैनें तुम्हें अपने सामने। अब तो अपनी बुद्धि की हार मान लो।

मौसाजी! एक बात की गांठ बांध लीजिये कि अभयकुमार की बुद्धि कभी हारती नहीं।

यह सुनकर चंडप्रद्योतन ठहठहा हंस पड़ा, बोला- ये वेश्याएँ तुम्हें राजगृह से पकड़कर यहाँ ले आई है, क्या यह भी तुम्हारी ही बुद्धि का चमत्कार है?

क्या सचमुच आप मेरी बुद्धि का चमत्कार देखना चाहते हैं, मौसाजी?

देख तो चुका हूँ भानजे, अब और क्या दिखाओगे?

आप बुरा न माने तो ऐसा चमत्कार दिखा दूं कि आपको विश्वास ही न आवे।

तुम्हारा क्या बुरा मानना? क्या दिखाओगे मुझे? बता तो दो।

मौसाजी! आप उज्जयिनी के राजा हैं और यदि मैं यहाँ के भरे बाजार में आपको जूतियों से पीटता हुआ निकाल ले जाऊं तो आप क्या कहेंगे?

यह बुद्धि की बात है या मूर्खता की? ऐसा

कभी भी संभव नहीं हो सकता और इस असंभव को अगर तुम संभव करके दिखा दो तो अवश्य ही मैं तुम्हारी बुद्धि के चमत्कार को मान लूंगा।

तो इसे अवश्य संभव करके दिखा दूंगा, महाराज! फिर तो आप कह देंगे न कि अभयकुमार की बुद्धि कभी हारती नहीं।

अवश्य कह दूंगा, पर इसे कर गुजरने का सपना ही देखो अभय!

सपना अवश्य सच होकर रहेगा, राजन्!

अभयकुमार पर बराबर निगरानी रखी जाने लगी। उसे राजगृह लौटने की अनुमति नहीं मिली। बन्दी तो नहीं था, पर बन्दी जैसा ही था। अभयकुमार राजकार्यों में सहभागी बन गया। उसके उस सहयोग से प्रद्योत प्रसन्न हो गया। उसी से घर जाने का वरदान मिल गया।

राजगृह पहुँचने का पहला काम अभय ने यह किया कि एक ऐसे व्यक्ति को खोज निकाला जो उसके बताये अनुसार अभिनय कर सके। अभय ने उसे सारा अभिनय भली-भांति समझा दिया।

"मैं प्रद्योत हूँ! मुझे जबरन पकड़कर ले जाया जा रहा है। मुझे बचाओ।" इस प्रकार वह प्रशिक्षित

व्यक्ति उज्जयिनी की सड़कों पर रट लगाता हुआ घूमने लगा। लोग दौड़कर आये, आरक्षी दल वाले भी दौड़े किन्तु वहाँ आने पर उन्हें लगा कि कोई पागल आदमी जब उसे पागलपन का दौरा पड़ता है तो बोलता है। दो-चार दिन तो लोगों का ध्यान उधर गया, बाद में लोग उस आवाज से परिचित हो गये। उसके चिल्लाने पर उनका ध्यान उधर जाता ही नहीं। कभी ध्यान चला भी जाता तो अरे! यह तो वही पगला है। उस ओर से अपना ध्यान हटा लेते।

अभय व्यापारी का रूप बना, दो अत्यन्त सुन्दर गणिकाओं के साथ उज्जयिनी आया मौके के एक मकान में रहने लगा। प्रद्योत का उधर से आना-जाना होता था। गणिकाओं के हाव-भाव गवाक्ष से उसे दिखता रहता। उसने अपनी दासी के साथ कुछ वस्त्रादि भेजे।

"तुम कौन हो और ये वस्त्रादि कहाँ से क्यों लाई हो?" बाईजी मैं कौन हूँ इससे आपको क्या करना है। वस्त्रादि कहाँ से क्यों लाई यह मैं बताये देती हूँ। हमारे सम्राट बड़े दयालु हैं। वे जिस पर तुष्ट हो जाये, उसके लिए उनका दिल का दरिया प्रवाहित हो जाता है। यह समझ लो तुम्हारा कल्याण हो गया। सम्राट ने ही यह सामग्री तुम्हारे लिए भेजी है।

राजा, प्रजा का इतना ध्यान रखते हैं। धन्य हैं उनको ऐसा भाव दर्शाती हुई उन्होंने उस सामग्री को रख लिया।

दासी को लगा तीर निशाने पर लगा है। दिन प्रतिदिन ऐसा चलता रहा। एक दिन उसने कहा-राजा स्वयं तुमसे मिलना चाहते हैं। तुम तो उनके दिल में ही बस गई हो। कहती हुई रहस्यभरी दृष्टि से देखती हुई मुस्कुराई।

यदि सम्राट स्वयं कृपा करना चाहते हैं तो कौन अभागा होगा जो उनकी कृपा से वंचित रहेगा। ऐसा कहती हुई उन्होंने संकेत से समय आदि संसूचन कर दिया।

जय हो! विजय हो! आपकी कृपा से ऐसा कौनसा कार्य है जो नहीं हो सकता- कहती हुई दासी ने सम्राट को अपनी सफलतामय अभिव्यक्ति प्रकट कर दी।

सम्राट झूम उठा। उसने दासी को पुरस्कृत कर रवाना किया और स्वयं तैयारी करने लगा। ऐसे प्रसंग पर किसी को साथ ले जाना उसने उचित नहीं समझा। जैसे ही मकान में प्रवेश किया गणिकाओं ने उसका स्वागत कर पलंग पर बिठाया। इतने में अभय के

सेवकों ने उसे पकड़ा, उस पगले के वस्त्र पहनाये और बांधकर रथ में डाल दिया। बीच मार्ग में उसे उसी की जूती से मारकर हुए अभय ले जा रहा था। प्रद्योत चीख रहा था। चिल्ला रहा था। मैं प्रद्योत हूँ, मैं प्रद्योत हूँ, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ, मुझे जबरन पकड़ कर ले जाया जा रहा है। लोगों ने देखा उस पागल के वस्त्रों को देखते ही उन्हें यह उस पागल का ही पागलपन लगा। अतः कोई कुछ भी नहीं बोला। किसी ने कोई प्रतिकार नहीं किया।

राजगृह पहुँचने पर अभय बोला- मौसाजी! अब तो मान गये आप अभय की बुद्धि को कि वह कभी हारती नहीं।

स्रोत- नन्दी सूत्र, टीका व आवश्यक निर्युक्ति।

सार- पारिणायिकी बुद्धि ऐसी ही होती है।

❖ ❖ ❖

भात-पानी का विच्छेद

अभिग्रह धारी ढंढणमुनि द्वारिका नगरी में भिक्षा हेतु निकले। द्वारिका में ही उनका जन्म हुआ था। वे वासुदेव श्रीकृष्ण के पुत्र थे। उनकी माता का नाम ढंढणा था अत: उनका नामकरण किया गया ढंढणकुमार। विपुल राजसुख में पले-पोसे होने पर भी उनका मन सांसारिकता में नहीं लगा और वे भगवान अरिष्टनेमि के समीप प्रव्रजित हो गये। इतना ही नहीं, वे अपनी संयम साधना में कठोर तप:श्चरण भी करने लगे।

कठोर तप:श्चरण के साथ-साथ क्रूर कर्म भी कठोर बन गये। वे भिक्षा के लिए भ्रमण करते किन्तु उन्हें भिक्षा सुलभ नहीं होती। कहीं गृह स्वामी असुझते मिलते तो कहीं भोज्य सामग्री अप्रासुक। इतना ही नहीं, यदि कोई अन्य मुनि भी उनके साथ भिक्षा के लिए चला जाता तो उसे भी भिक्षा प्राप्त नहीं हो पाती।

मुनिगण विचार करने लगे कि त्रिखण्डाधिपति

श्रीकृष्ण के पुत्र एवं अरिष्टनेमि भगवान के शिष्य होते हुए भी ढंढणमुनि को पूरी द्वारिका नगरी में भिक्षा कहीं पर भी सुलभ क्यों नहीं हो पाती? उन्होंने इसका समाधान स्वयं भगवान अरिष्टनेमि से लेने का विचार किया व पहुँच गये भगवान के चरणों में।

वे प्रभु से पूछे इसके पूर्व ही भगवान ने कहा- मुनियों! कर्मों का बन्ध बहुत आसान है। पर उनका फल योग बड़ा दुष्कर होता है। जैसे महाजन का ऋण लेना आसान होता है किन्तु उसको चुकाना कठिन हो जाता है। व्यक्ति नासमझी में अथवा अपनी गुरुता प्रदर्शित करने हेतु ऐसे निबिड़ कर्मों का उपार्जन कर बैठता है जिनका भोग उसे ही करना होता है। ढंढणमुनि की आत्मा द्वारा भी पूर्व में ऐसी ही हुआ है। उसी का परिणाम है कि उस महान् साधक को इतनी विशाल द्वारिका में कहीं भी आहार-पानी भिक्षा उपलब्ध नहीं हो पाती।

मुनियों की प्रबल जिज्ञासा को जानते हुए भगवान ने ढंढणमुनि के उस भव का वृत्तान्त सुनाना प्रारम्भ किया जिस भव में उस आत्मा ने उन निबिड़ कर्मों का बन्ध किया था।

मगध देश में धान्यपूरक था। वहाँ पारासर नाम

का ब्राह्मण रहता था। उस पर राजा की कृपा थी। वह राजसेवक भी था। राजकीय भूमि पर अन्नोत्पादन का कार्य उसी को सौंपा हुआ होने से वह अनेक श्रमिकों से उस कार्य को सम्पादित करवाता था।

श्रमिकों के घर से भोजन आ जाने पर व बैलों के चारे का समय आ जाने पर भी वह उनको भोजन की छुट्टी नहीं देता, कोई न कोई बहाना बनाकर कि अभी इतनी जल्दी क्या है? इतनी जल्दी कोई भूख लगती है क्या? चलो एक चक्कर तो और लगाओ। इस प्रकार उनके आहार में अन्तराय डालने से उसने निबिड़ कर्मों का बंध कर लिया।

मुनियों! उक्त कथन से तुम लोग समझ ही गये कि ढंढणमुनि की आत्मा उस जन्म में कौन थी। पारासर ब्राह्मण का जीव इस भव में ढंढण बना। अन्तराय कर्म का प्रबल उदय भाव होने से इतनी बड़ी द्वारिका में भी उसे आहार-पानी उपलब्ध नहीं हो पा रहा है।

भगवान की वाणीसुत ढंढणमुनि गहरे संवेग भावों में रमण करने लगे। उन्होंने भगवान से निवेदन किया प्रभो! मैं उन भारी कर्मों को काटना-तोड़ना चाहता हूँ। एतदर्थ आपकी अनुज्ञा हो तो मुझे प्रतिज्ञा

करावें कि आज मैं परलब्धि से प्राप्त आहार नहीं करूंगा।

भगवान से ऐसा उग्र, कठोरतम अभिग्रह धारण कर ढंढणमुनि विचरण करने लगे। अलाभ परिषह को समभाव से सहते-सहते काफी समय व्यतीत हो गया। कर्म कठोर थे, पर मुनि उनसे भी कठोर बन गये। दीर्घकाल तक स्वलब्धि का आहार नहीं मिलने पर भी उनका मन म्लान नहीं हुआ।

भगवन्! आज आपसे एक प्रश्न पूछने की अभिलाषा हो रही है- श्रीकृष्ण ने वन्दन करने के पश्चात् भगवान अरिष्टनेमि से नम्र निवेदन किया और पूछा- आपके अट्ठारह हजार मुनियों में ऐसा मुनिश्रेष्ठ कौन है जो परम दुष्कर क्रिया की आराधना कर रहा है?

कृष्ण! ऐसा मुनि श्रेष्ठ तेरा अपना पुत्र राजर्षि ढंढण है।

प्रभु! मैं उन मुनिश्रेष्ठ के अभी ही दर्शन करना चाहता हूँ।

द्वारकेश! राजर्षि ढंढण अभी भिक्षा हेतु नगरी में गये हुए हैं। तुम यहाँ से जब लौट रहे होओगे तो मार्ग में तुम्हें उनके दर्शन हो सकेंगे।

धन्य हो भगवन्- कहते हुए श्रीकृष्ण वहाँ से उठे और राजप्रासाद की ओर लौट चले, इस सतर्कता के साथ कि मार्ग में मुनिश्रेष्ठ के दर्शन करने हैं।

श्रीकृष्ण हाथी पर आरूढ़ थे अतः उन्हें दूर से ही दिखाई दे गया कि अत्यन्त दुबले-पतले हड्डियों के ढ़ांचे जैसे ढंढणमुनि सामने से चले आ रहे हैं। वे हाथी से नीचे उतरे, उन्होंने मुनि को वन्दन-नमस्कार किया तथा उनकी स्तुति की- मुनिवर! आप परम पावन एवं चरम सौभाग्य के धनी हैं। मेरा भावपूर्वक वन्दन स्वीकार करें। मुनि ने उनका अभिवादन स्वीकार किया तथा भिक्षा हेतु आगे निकल गये।

जब ढंढणमुनि को श्रीकृष्ण वन्दन-नमस्कार कर रहे थे तब ऐसा करते हुए एक गृहस्थ ने उन्हें देखा और सोचा कि जिस मुनि को श्रीकृष्ण जैसा प्रतापी पुरुष वन्दन कर रहा है उन मुनि की आहार-पानी के लिये अवश्य ही अभ्यर्थना करनी चाहिये। यह सोच वह आगे बढ़ा और उसने मुनि से गोचरी हेतु पधारने का आग्रह किया। मुनि उसके साथ हो लिये। घर पहुँचकर उसने मुनि को निर्दोष आहार-पानी भिक्षा में दिया।

मुनि को दीर्घकाल पश्चात् निर्दोष भिक्षा मिली-

यह उनके लिये आश्चर्य का विषय हो गया। वे यह निर्णय निकालना चाहने लगे कि यह भिक्षा उनकी प्राभाविकता से प्राप्त भिक्षा है अथवा नहीं। वे भिक्षा लेकर सीधे भगवान की सेवा में पहुँचे और बोले- प्रभु! आज मुझे निर्दोष भिक्षा प्राप्त हुई किन्तु अपने अभिग्रह के अनुसार मैं जानना चाहता हूँ कि यह भिक्षा मेरी अपनी लब्धि से मिली है अथवा नहीं?

ढंढण! यह आहार-पानी तेरी अपनी लब्धि का नहीं है। यह श्रीकृष्ण की प्राभाविकता से तुझे मिला है। यदि वे तुझे वन्दन न करते तो दानदाता गृहस्थ इसके लिये प्रेरित नहीं होता।

तब तो भगवन्, यह मेरे लिये ग्राह्य नहीं है। मेरी लब्धि का आहार नहीं मिला इसका स्पष्ट आशय यह है कि मेरा अन्तराय कर्म अभी तक पूर्ण रूप से क्षय नहीं हुआ है। मुझे यह प्राप्त आहार परठ देना चाहिये- कहते हुए ढंढणमुनि वहाँ से उस आहार को बाहर परठने के लिये चले गये।

राजर्षि ढंढण की तपाराधना चलती रही और चलता रहा उनका आत्मिक चिन्तन कि भात-पानी के विच्छेद यानि कि किसी के दान या लाभ में बाधक बनना किसी भी आत्मा के लिये कभी भी समुचित

नहीं है। यह विच्छेद उसके अपने विच्छेद का कारण बनता है और उस विच्छेद को भोगने में यदि समता एवं शान्त भाव का अभाव रह जाये तो उसका फल भोग और अधिक जटिल बन जाता है अतः ऐसे विच्छेद के दुष्कार्य के पूर्व ही सावधानी आवश्यक है। सब प्राणियों को जीने दो, उन्हें अपना दान और लाभ पाने दो- यही प्रत्येक का कर्त्तव्य है। दुःख दोगे तो दुःख होगा और सबके सुख में अपना ही सुख निहित होता है। इसलिये ममता से ऊपर उठकर समता भाव में विचरण करना चाहिये।

इस प्रकार उनका चिन्तन ऊर्ध्वमुखी होता गया, आत्मलीनता बढ़ती गई और एक दिन केवलज्ञान के आलोक से वे आलोकित हो गये- निर्वाण पद को प्राप्त कर गये।

स्रोत- त्रिषष्टिश्लाका पुरुष पर्व 8वाँ

सार- समत्व साधना से बढ़कर अन्य कोई साधना नहीं है।

प्रवचनकार ऐसा भी फरमाते रहे है कि प्राप्त आहार को परठने के लिये उसे चूर रहे थे उस समय चिन्तन प्रखर हुआ और उन्होंने घाती कर्मों को चूर दिया।

❖ ❖ ❖

मयूर का मनोरम नृत्य

देवदत्ता चम्पा नगरी की विख्यात नृत्यांगना थी। जब वह मधुर संगीत के साथ अनवरत नृत्य करती तो ऐसा लगता है कि जैसे उसकी सुन्दरता कई गुनी आकर्षक होकर चमक उठी है। देखने वाले उसे अपलक देखा ही करते।

चम्पा नगरी में ही दो श्रेष्ठि पुत्र रहते थे- जिनदत्त और सागरदत्त। दोनों लंगोटिया मित्र थे- हरदम साथ रहते थे। बचपन से दोनों साथ-साथ खेले, साथ-साथ युवा हुए और साथ-साथ ही व्यापार भी करते तथा मनोरंजन भी। उन दोनों की घनिष्ठता इतनी कि जैसे दो शरीर किन्तु एक प्राण हों।

एक दिन मौसम बहुत सुहावना था। राजहंसों की तरह बादलों के सफेद टुकड़े नील गगन में इस प्रकार घूम रहे थे जैसे वह नील गगन यथार्थ में गगन न होकर नील महासागर हो। ऐसे मौसम में दोनों मित्रों ने घर में बैठे रहना उचित नहीं समझा। उन्होंने निश्चय

किया कि नगर से बाहर किसी रम्य उद्यान में भ्रमण करने चला जाये। जिनदत्त ने भ्रमण का प्रस्ताव किया तो सागरदत्त तुरन्त सहमत हो गया, परन्तु उसने एक और सुझाव दिया- मित्र, केवल हम दोनों ही उद्यान में भ्रमण करें या कोई तीसरा भी हो?

मैं समझा नहीं, सगार कि तुम क्या कहना चाहते हो? पहेली क्यों सुना रहे हो? साफ-साफ बताओ- जिनदत्त ने कहा।

पहेली नहीं मित्र, मात्र सुझाव है मेरा कि देवदत्ता को भी साथ ले लें, आखिर हम दोनों को नृत्य कितना पसन्द है? इस मौसम में यदि नृत्य भी सामने होगा तो हमारे मनोरंजन का आनन्द कुछ विशिष्ट ही होगा- सागरदत्त ने अपना सुझाव स्पष्ट सुना दिया।

वास्तव में नृत्य दोनों को बहुत प्रिय था। नृत्य देखते-देखते वे इतने मग्न हो जाया करते थे कि अपने आपको भी भूल जाते थे। नृत्य को वे कला का आह्लाद मानते थे। श्रेष्ठि पुत्र थे, धन का उनके लिये कोई अभाव नहीं था। उनके प्रस्ताव को देवदत्ता ने तुरन्त स्वीकार कर लिया और तीनों चम्पानगरी के रमणीय सुभूमिभाग उद्यान में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देवदत्ता के नृत्य के साथ अपना भरपूर मनोरंजन किया।

जब दोनों मित्र वापिस चलने को हुए तो

भ्रमण करते हुए उद्यान से लगे हुए सघन झाड़ियों के एक प्रदेश मालुकाकच्छ की ओर गये।

जब वे एक सघन लताकुंज में से गुजर रहे थे तो अचानक झाड़ियों की झुरमुट में से एक घबराई हुई मोरनी उड़ी। वे उधर ही देखने लगे। भूमि पर जब उनकी दृष्टि मुड़ी तो उन्होंने देखा कि वहाँ दो सुन्दर श्वेत अंडे पड़े हुए हैं। वे मोरनी के अंडे थे। उन अंडों को देखते ही दोनों की कल्पना शक्ति मुखर हो उठी। जिनदत्त बोला- मित्र! हमें नृत्य अति प्रिय है और ये मोरनी के अंडे हैं। कुछ सोच सकते हो कि हम इन अंडों का क्या करें?

सागरदत्त तो खुशी से झूम उठा। उसका मन तो उछालें मारने लगा- हाँ जिनदत्त, हमें एक-एक अंडा ले लेना चाहिये। हम अपने-अपने अंडे को मुर्गी के अंडों के साथ पका लेंगे। तब अंडे में से निकलेगा एक छोटा-सा मोर-प्यारे प्यारे छोटे-छोटे इन्द्रधनुषी पंखों वाला। उसे नृत्य में विशेष शिक्षा देने के लिये हम कुशल कलाचार्य को रखेंगे। प्रशिक्षित हो जाने के बाद उस मयूर का नृत्य अनुपम होगा। फिर हम देखते रहेंगे मयूर का मनोरम नृत्य।

वाह मित्र, तुने तो मेरे मन की ही सारी योजना बता दी। सच, मेरे मन में भी ये ही विचार उठे थे। धैर्य

एवं विश्वासपूर्वक यह योजना जब पूरी हो जायेगी तब हम अवश्य देखते रहेंगे हमारे-हमारे मयूरों के मनोरम नृत्य और दोनों के मयूरों में प्रतिस्पर्धा भी चलाते रहेंगे ताकि उनके नृत्यों में अधिकाधिक निखार आता रहेगा।

जिनदत्त, अब तनिक भी विलम्ब मत करो। मेरे मन में तो मयूर नाचने लगे हैं, अंडे लेकर शीघ्र घर चले चलते हैं। मैं तो अधीर होने लगा हूँ कि कब अंडा पकेगा, कैसे उसमें से मोर शिशु निकलेगा एवं कैसा होगा उसका पूर्ण विकसित नृत्य? जल्दी करो मेरे मित्र, मेरे लिये तो अब एक पल भी काटना कठिन हो गया है। कैसे निकलेगा यह बीच का सारा समय? सागर दत्त तो जैसे पंख लगाकर उड़ जाना चाहता था।

जिनदत्त ने प्रेमपूर्वक समझाया- तू पागल तो नहीं हो गया है सागर जो ऐसी जल्दी मचा रहा है? तेरे अधीर होने से क्या कार्य पलों में पूरा हो जायेगा? इसमें तो जो समय लगना है वह लगेगा ही। शंका रहित होकर प्रतीक्षा करना ही हमारा कर्त्तव्य है। नि:शंक रहे तो यथासमय हमारी आकांक्षा अवश्य पूर्ण होगी।

मित्र! तुम मुझे पागल कहो या और कुछ- मेरा मन तो बुरी तरह से बावला हो रहा है। चाहता हूँ कि आकांक्षा अभी की अभी पूरी हो जाये और मयूर

क्या नाचे कि मेरा मनमयूर नाचते-नाचते आनन्द विभोर हो उठे।

जिनदत्त ने अपने मित्र सागरदत्त की पीठ थपथपाई यह भाव जगाने के लिये कि वह धीरज रखे, फल प्राप्ति में विश्वास बनावे ताकि उसकी आकांक्षा समय पर पूर्ण हो ही। दोनों ने एक-एक अंडा उठाया और अपने-अपने निवास स्थानों को चल दिये।

उन मित्रों ने उस मयूरी की पीड़ा को कहाँ देखी- समझी, जो अपने ही दिल और रक्त-मांस के टुकड़ों से वंचित की जा रही थी? वह क्या करती, पक्षी होकर स्वार्थी मनुष्य के समक्ष विवश थी। वे दोनों मित्र तो अपनी ही खुशी में झूमते हुए चले गये।

धैर्य और विश्वास मानव हृदय के मूल्यवान गुण माने गये हैं, क्योंकि इन्हीं की सहायता से मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है- वह लक्ष्य फिर कोई भी हो, कैसा भी हो। आध्यात्मिक लक्ष्य की दिशा में भी सम्यक्त्व तभी सुदृढ़ बन सकता है एवं रह सकता है जब उसके प्रति शंकारहित विश्वास हो एवं उसे परिपुष्ट बनाते रहने की धैर्ययुक्त प्रक्रिया। यही क्यों, किसी लौकिक लक्ष्य को भी ले लें, बिना धैर्य एवं विश्वास के उसकी पूर्ति कभी भी संभव नहीं बनती है। माली अगर एक पौधे को सौ-सौ घड़े पानी

भी पिलाता रहे तो क्या उस पर असमय में ही फल आ जायेंगे? उसे फल के लिये धैर्य के साथ समय की प्रतिक्षा अवश्यमेव करनी होगी और विश्वास के साथ कि फल अवश्य आयेंगे। यह सत्य है कि ऋतु आने पर ही फल आता है।

परन्तु यह सत्य दोनों मित्रों की बीच बिखर गया था। जिनदत्त धैर्य एवं विश्वास का धनी था और मयूर का मनोरम नृत्य देखने का प्रबल आकांक्षी भी। हाँ, मयूर का मनोरम नृत्य देखने का प्रबल आकांक्षी तो सागरदत्त भी था, पर उसकी आकांक्षा के साथ धैर्य एवं विश्वास नहीं जुड़ा हुआ था। उसका तो पल-पल अधीरता में कट रहा था और अविश्वास उभर रहा था कि अंडे में से मोर का बच्चा निकलेगा भी कि नहीं? इस कारण अंडों के परिपक्व बनने के काल में दोनों की प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न हो गई।

जिनदत्त विश्वासात्मा था और सागरदत्त संशयात्मा। जिनदत्त ने परिपक्व काल की जानकारी ले ली और वह धीरज के साथ उसके पूर्ण होने की प्रतिक्षा करने लगा। उसे पक्का विश्वास था कि समय पूरा हो जाने पर उसके अंडे में से एक सुन्दर छोटा-सा मोर जरूर निकल आयेगा। इसलिये वह बार-बार अंडे को निरखने-परखने भी नहीं गया। किन्तु सागरदत्त का

मन तो एक पल को भी चैन नहीं लेता था। वह बार-बार अंडे को निरखने-परखने जाता कि कहीं छोटा मोर निकल तो नहीं आया है। एक दिन में ही वह कई बार जाता और बार-बार अंडे को हिला-डुलाकर देखता। वह अधीर भी था और विश्वासी भी।

दोनों मित्रों को अपनी-अपनी मनोवृत्ति एवं प्रवृत्ति का जो फल मिलना चाहिये, वह उन्हें मिला। समय पकने पर जिनदत्त के अंडे से एक सुन्दर छोटा-सा मोर निकला- प्यारा-प्यारा मोर। परन्तु सागरदत्त का अंडा उसकी बेसब्री के कारण बार-बार हिलाने से मर गया- सूख गया। वह बेकार और निर्जीव रह गया। एक मित्र को वांछित फल मिल गया और दूसरा मित्र नितान्त फलहीन रह गया।

यह है श्रद्धा और संशय का परिणाम। जो साधक श्रद्धावान रहकर साधना में प्रवृत्त होता है, उसे सुख, शान्ति और मुक्ति प्राप्त होती है। इसके विपरीत संशयात्मा को निन्दा-ग्रर्ध तथा अनेक प्रकार के संकटों, दु:खों, पीड़ाओं और व्यथाओं का पात्र बनता है।

जिनदत्त ने अपने छोटे-से मोर को प्रशिक्षण हेतु एक कुशल कलाचार्य को सौंप दिया। अल्पकाल में ही उसे नृत्य में विशेष रूप से प्रवीण बना दिया गया- इतना प्रवीण कि जो भी उस मयूर का मनोरम

नृत्य देखता, वह उस पर मुग्ध ही हो जाता।

तब पहली बार उस मयूर नृत्य का सार्वजनिक समारोह आयोजित किया गया। अब तक सागरदत्त अपने मित्र के धैर्य एवं विश्वास से बहुत कुछ शिक्षा ले चुका था। समारोह में दोनों मित्र पास-पास ही बैठे थे। सारा मैदान दर्शकों से खचाखच भरा था। लगता था जैसे चम्पानगरी में कोई नहीं बचा है। राजपरिवार से लेकर सामान्य से सामान्य नागरिक का परिवार तक वहाँ उस मयूर के मनोरम नृत्य को देखने-सराहने के लिये उपस्थित था।

कलाचार्य ने निर्देशित किया और वह मयूर ऐसा मनोरम नृत्य करने लगा कि सब देखते ही रह गये। सब उस मयूर की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे किन्तु सागरदत्त ने मुक्तकंठ से ऊपर उठकर हार्दिक प्रशंसा की अपने मित्र जिनदत्त की उसके धैर्य और विश्वास की तथा उसकी अंडे के पालन-पोषण में लगी लगन की।

स्त्रोत- ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र।

सार- धैर्य, विश्वास एवं निष्ठा से ही मन नि:शंक बनता है तथा धर्म पथ पर चलकर समुन्नति के शिखर पर आरूढ़ होता है।

❖ ❖ ❖

मुनि, मृग एवं रथकार

देखो तो बहिन, सामने से कौन आ रहा है? कैसा अद्वितीय रूप सौन्दर्य है इसका? कितना मनमोहक आकर्षण है? एक पनिहारिन ने कहा और सभी की दृष्टि उस दिशा में मुड़ गई। मुड़ क्या गई- वहीं थम गई। ऐसी सुन्दरता अनुपम थी- आँखें उस पर ठहर गई तो बस ठहर ही गई।

सामने से आने वाले थे मुनि बलभद्र- श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता। तब यदुवंशियों के पापाचरण में डूब जाने के कारण द्वारिका का पतन हो चुका था तथा हो चुका था स्वयं श्रीकृष्ण के प्राभाविक जीवन का पटाक्षेप। यादव जाति का शौर्य तथा द्वारिका नगरी का अमरावती जैसा वैभव इतिहास का तथ्य बन चुका था। इन्हीं अंधकार एवं निराशापूर्ण परिस्थितियों ने बलभद्र के अन्त:करण में वैराग्य का उदय ला दिया था और वे दीक्षित हो गये थे।

मुनि बलभद्र ही विचरण करते हुए नगर में भिक्षार्थ जाने को उस ओर आ रहे थे। पनघट पर कई स्त्रियाँ पानी भरने के लिये अपने रस्से-भांडे लेकर आई हुई थी। कोई रस्से बंधे भांडे से पानी खींच रही थी कोई खींचे हुए पानी का भांडा दूसरे भांडे में उड़ेल रही थी तो कोई कुएँ में से पानी खींचने के लिये भांडे को रस्से से बांध रही थी। कई छोटे बच्चे भी अपनी माताओं के साथ आये हुए थे जो उनके पास ही खड़े पानी खींचने के दृश्य को कौतूहलपूर्वक देख रहे थे।

राज्य वैभव चला गया, सुख के साधन समाप्त हो गये और संसार को त्यागकर बलभद्रमुनि भी बन गये, परन्तु उनके शरीर के सौन्दर्य एवं तेज में कोई बदलाव नहीं आया- वही आकर्षण, वही प्रभाव और वही चमक कि एक बार देख लेने वाला सबकुछ भूल जाये और मुग्ध बन जाये। पनघट पर खड़ी स्त्रियों के मन की भी उन्हें देखकर ऐसी ही विमुग्ध अवस्था बन गई। उनके सौम्य मुख पर जो सबकी नजरें टिकी तो टिकी ही रह गई। मन पानी भरने से हटकर उनकी मुखाकृति पर जम गया। ज्यों-ज्यों वे पनघट के समीप आते जा रहे थे त्यों-त्यों स्त्रियों की अतृप्त आँखें उनकी देह यष्टि पर ही जमी रही।

मन भटक गया था कुएँ से दूर, पर मशीन की तरह हाथ काम कर रहे थे। एक स्त्री को रस्से से अपना भांडा बांध कर कुएँ में उसे उतारना था, पर बेसुधी की हालत में उसने अपने रस्से को बांध दिया अपने ही बच्चे के गले से और भांडे की तरह उसे कुएँ में वह उतारने ही वाली थी कि मुनि की दृष्टि उस ओर चली गई। इस अनहोनी को देखकर वे बोल पड़े- अरे बहिन! यह क्या अनर्थ करने जा रही हो? किधर है तुम्हारा ध्यान?

मुनि के मुखमंडल पर से अपनी आँखें हटाये बिना ही उस स्त्री ने उत्तर दे दिया- मुनिवर! मैं तो कुएँ से पानी खींच रही हूँ। इसमें अनर्थ क्या हो गया?

जरा अपनी आँखों को उधर घूमाकर तो देखो। तभी पता चलेगा अपने अनर्थ का- मुनि ने उसका ध्यान बदला।

ज्योंहीं उसने अपनी आँखें उधर घुमाई, लज्जा के मारे वह कांप उठी। वह कितनी सुध-बुध खो चुकी थी और पलभर में ही वह अपने पुत्र को कुएँ में उतार देने वाली थी- जानकर वह हतप्रभ हो गई।

परन्तु हतप्रभ हुए मुनि बलभद्र भी। क्या उनका रूप-स्वरूप अभी भी इतना आकर्ष है कि स्त्रियाँ अपना भान ही भूल जाये? यह तो अनर्थ की

जड़ बन गया है। आज तो यह अनर्थ टल गया, किन्तु कल न जाने और कौनसा अनर्थ घटित हो जाये- इसके लिये उन्हें आवासीय क्षेत्र में आना ही छोड़ देना चाहिये। अब वे भिक्षा हेतु नगर में नहीं आयेंगे- वन में रहकर ही संयम साधना करेंगे। वहाँ भिक्षा मिल जाये तो उत्तम और न मिले तो भी उत्तम, किन्तु अपने रूप-स्वरूप को वे किसी भी अनर्थ का कारण कतई नहीं बनने देंगे। मुनि बलभद्र बिना भिक्षा लिये पनघट से ही पुनः वन की ओर लौट गये।

मुनि बलभद्र ने अरण्यवास ही अपना लिया। वृक्ष के नीचे खड़े रहकर ध्यान साधना करते और आने-जाने वालों के माध्यम से कभी कोई भिक्षा मिल जाती तो आहार कर लेते, अन्यथा तपाचरण में आत्मलीन बन जाते। एक दिन एक प्यारा-सा, छोटा-सा मृग-शावक वहाँ चला आया और चला आया तो मुनि के चरणों में निःशंक होकर बैठ गया- वापिस कहीं अन्यत्र जाना ही भूल गया।

वह भोलाभला मृग मुनि की प्रशान्त एवं सौम्य मुख-मुद्रा को अपलक निहारता रहा और जैसे सोचता रहा। अचानक उसके तन-बदन पर एक प्रकाश चमक उठा- उसे पूर्वभव की स्मृतियाँ याद हो आई। फिर तो वह मुनि के समीप ही रहने लगा तथा उनका

आस्थावान भक्त बन गया एवं वह भी प्रतिक्षण-प्रतिफल सक्रिय। मुनि जब अपनी साधना में निमग्न रहते तो वह मृग आने-जाने वाले पथिकों का ध्यान रखता। फिर ध्यान में मग्न मुनि के पास जाकर उन्हें स्पर्श व इशारों से समझाकर मुनि को यात्री के पास खींच लाता था। इस प्रकार मृग स्वयं दान नहीं दे सकता था किन्तु दान का भागी बनने के लिये सदा सन्नद्ध रहता था। उस भोले मृग की पवित्र मनोभावना का मुनि की संयम साधना में अद्‌भुत परन्तु अनजाना महत्त्व पैदा हो गया था।

एक बार एक राजा ने एक रथकार को अपना रथ बनाने के लिये उपयुक्त काष्ठ को चुनने व लाने हेतु वन में भेजा। वह घूमता-घामता उसी वन में पहुँच गया, जहाँ बलभद्रमुनि निवास करते थे। उस रथकार ने एक वृक्ष के काष्ठ को भली-भाँति देखा और उसे समझ में आ गया कि वह काष्ठ रथ-निर्माण के लिये श्रेष्ठ रहेगा। उसी वृक्ष की लकड़ी काटनी है- यह सोचकर उस रथकार ने उस वृक्ष को कटवाने का काम शुरू कर दिया। उसे देखकर वह मृग शीघ्र राममुनि के पास गया और उन्हें संकेत से समझाया। महामुनि ध्यान से जागृत होकर जहाँ रथकार था, वहाँ आये। उस समय मुनि के मासखामण का पारणा था। रथकार उन्हें

देखकर अत्यन्त भावोल्लास को प्राप्त हुआ- "अहो! इस अरण्य में साक्षात् कल्पवृक्ष के समान ये मुनि मिले हैं। अहो! कैसा इनका रूप! कैसा तेज! कैसी अद्‌भुत समता ऐसे मुनि को अतिथि के रूप में पाकर मैं कृतार्थ हो गया।" ऐसा विचार कर उसने मुनि को पंचांग प्रणाम किया।

यों बन गया वहाँ पर मुनि, मृग एवं रथकार का त्रिकोण, जिसकी तीनों भुजाएँ परस्पर कोण बना बैठी दान की पवित्र भावना के आधार पर। विशुद्ध हृदयों, शुभ भावों एवं दान प्रभावी धारा की वह अत्युत्तम त्रिकोण बन गया।

मृग उस उत्तम कार्य में लगा ही हुआ था किन्तु वह क्षण उसके जीवन में भी अपूर्व बनकर आया। संयमी के प्रति निष्ठा से ओत-प्रोत उसका अन्त:करण पवित्रतम भावधारा में आलोड़ित हो रहा था। वह स्वयं भिक्षा दान करने में योग्य नहीं था किन्तु उसने अपना पूरा सामर्थ्य इस पुण्य कार्य के हेतु लगा रखा था और उस समय तो उसका वह सामर्थ्य परम तेजस्वी बन गया था उस त्रिकोण की अन्य दोनों भुजाओं के प्रति। रथकार परम श्रद्धा से भिक्षा दे रहा था और मुनि परम समभाव से उस भिक्षा को ग्रहण

कर रहे थे। दोनों की भाव शुद्धता अनुभूति का स्रोत बन गई थी।

इस प्रकार भिक्षा के आदान-प्रादान के साथ रथकार के मन की उदात्त दान धारा, मुनि की प्रशान्त समभाव से भिक्षा ग्रहण धारा तथा मृग की संयम समर्थक हर्ष धारा ने मिश्रित होकर भाव विशुद्धि का अनुपम दृश्य उपस्थित कर दिया। वह अपूर्व दान था और तीनों का उत्तम संयोग था।

तभी एक और संयोग सामने आ गया। संयोगवश उस समय यकायक इतने जोर की आंधी आई कि उस वृक्ष की एक विशाल शाखा चरमरा कर टूटी और उन तीनों भव्य प्राणियों पर आ गिरी। यह भी संयोग ही था कि उस परम विशुद्ध भावधारा के साथ तीनों प्राणी तत्काल काल धर्म को प्राप्त हो गये।

मुनि बलभद्र ब्रह्मलोक में पद्मोतर विमान से परम ऋद्धिशाली देव बने तो मृग एवं रथकार के जीव भी उसी स्वर्ग में उनके सेवाभावी देव हुए। ऐसे शुभ संयोग श्रेष्ठ भविष्य का निर्माण कर देते हैं।

स्रोत- त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आठवाँ पर्व।

सार- भाव शुद्धि का परिणाम सदैव उत्कृष्ट होता है। ❖ ❖ ❖

तप्त शिलाखंड पर

पिताश्री! क्या आप और माताश्री दोनों दीक्षित होने जा रहे हैं? पुत्र अरणक ने अपने पिता वणिकदत्त से पूछा।

तुम जानते हो पुत्र कि आचार्य अर्हन्मित्र शिष्यवर्ग सहित अपनी तगरा नगरी में पधारे हुए हैं। तुमने भी उनका धर्मोपदेश सुना है- कितना मार्मिक उद्बोधन करते हैं वे? और यह सही है कि हम वैराग्याभिभूत हो गये हैं। मेरे साथ तुम्हारी माता भद्रा भी संयम पथ पर आरूढ़ होना चाहती है। किन्तु एक ही समस्या हमारे सामने है- पिता ने विस्तार से बात बताई।

वह समस्या क्या है, पिताजी?

पुत्र, तुम हमारी इकलौती सन्तति हो और हमारे हृदय में तुम्हारे लिये अपार स्नेह है। तुम्हारा वियोग, हम कैसे सह सकेंगे- यही विचार हमें बार-बार सता रहा है।

यह तो वास्तव में समस्या है। आप दोनों के

बिना तो मैं अनाथ ही हो जाऊंगा। इसके लिये क्या आप मेरा एक सुझाव मानेंगे?

अवश्य अरणक अवश्य। वह हमें बताओ शायद समस्या सुलझ जाये।

पिताश्री, आपका वियोग मैं तो कतई नहीं सह सकूंगा, अतः जहाँ आप, वहाँ मैं भी चलूं तो कैसा रहे?

परन्तु पुत्र, संयम की साधना बहुत कठिन होती है। तुम सुख में पले-पोसे हो, सुकोमल हो, उन कठिनाईयों को सहना तुम्हारे वश में नहीं।

यौवन की ओर कदम बढ़ाने वाला अरणक बालकों की तरह बोला- आप जो मेरे साथ होंगे, पिताजी। मेरी कठिनाईयों को आप हल्की बनाते रहेंगे और मैं आपके साथ चलता रहूंगा। दीक्षा लेकर भी मैं अपने पिता के साथ तो रह सकूंगा।

पिता को भी उसके इस सुझाव पर सन्तोष हुआ- दीक्षा ले लेने के कारण पुत्र उनकी आँखों के सामने तो रहेगा। वह अपने मुनि-पुत्र को अवश्य ही स्नेहपूर्वक सम्हाल लेगा।

और इस प्रकार वणिकदत्त, उसकी पत्नी भद्रा तथा उसके पुत्र अरणक तीनों ने एक साथ आचार्य के समीप दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि बन जाने पर भी अरणक को विशेष कठिनाईयाँ नहीं सहनी पड़ी। उसके

मुनि पिता के उसके लिये भिक्षा ले आते, प्रत्यालेखना कर लेते एवं अन्य सुविधाएँ जुटा देते। सुख में पला हुआ अरणक मुनि बन जाने के पश्चात् भी सुख से ही संयम पालने लगा। मुनि बन जाने के पश्चात् भी वणिकदत्त के हृदय में पुत्र-मोह का भाव किन्हीं अंशों में बना रहा। अरणक के कोमल शरीर को किसी प्रकार का कष्ट न हो- इसका मुनि वणिकदत्त निरन्तर ध्यान रखा करते थे।

साध्वाचार के अनुसार पिता का ऐसा ध्यान पुत्र के लिये हितकारी नहीं बन सका और इसका प्रमाण मुनि वणिकदत्त के देहावसान के बाद प्रकट होने लगा। पिता के बराबर ध्यान रखने से मुनि अरणक का शरीर संयम साधना में कष्ट सहिष्णु न बन सका। सहिष्णुता तो आगे की बात- कष्ट सहने का सामान्य अभ्यास भी मुनि अरणक को नहीं हुआ। कुछ समय तक तो उनके साथी साधु उनके लिये भिक्षा आदि लाते रहे, किन्तु वह समय शीघ्र ही आ गया जब संयम साधना के सारे दायित्व स्वयं मुनि अरणक के कंधों पर आ गिरे।

भिक्षा लेने जाने का मुनि अरणक का पहला ही दिन था। ग्रीष्म काल का समय था- सूर्य तेजी से तप रहा था और गर्म हवाएँ चल रही थी। धरती ऐसी तपी हुई थी कि नंगे पैर जल उठते थे। मुनि अरणक

के कोमल पांव उस तीव्र जलन को कैसे सह पाते? पांव ही क्या जल रहे थे- सारा शरीर जल रहा था और ललाट से पसीना चू रहा था। वे तनिक-तनिक दूरी पर विश्राम लेते और आगे चलते। पात्रों का बोझ हाथ झेल नहीं पा रहे थे। आखिर थककर वे चूर हो गये और आगे चलने की शक्ति न रही तो घबराकर एक हवेली की छाया में खड़े रह गये कि जी भरकर थोड़ा विश्राम कर लूं तो फिर लौट चलूं। यह भय उन्हें बार-बार सता रहा था कि आज जैसा यह कष्ट वे प्रतिदिन कैसे सहेंगे? वे चिन्तातुर मुद्रा में खड़े हुए सुस्ताने लगे।

वह हवेली एक वेश्या की थी और वह उस समय उस गवाक्ष में बैठी हुई थी, जिसके नीचे ही मुनि अरणक खड़े हुए थे। वेश्या स्वयं रूपवती और तरुणी थी, किन्तु स्वयं से अधिक स्वरूपवान और तरुण लगा उसे नीचे खड़ा हुआ युवा मुनि। वह उस पर मुग्ध हो गई। वह सोचने लगी- यदि वह इस तरुण को अपने साथ रहने के लिये पटा ले तो उसका जीवन सार्थक हो जाये कामभोगों का भरपूर आनन्द उठाकर एवं उसकी अपार सम्पत्ति सार्थक हो जाये उस आनन्द की माध्यम बनकर। तभी वह खड़ी हुई- अब तनिक भी विलम्ब नहीं किया जाना चाहिये। घबराहट और थकान से क्रान्त बने इस तरुण पर अपना जादू चलाना अधिक

आसान रहेगा। उसने अपनी दासी को भेजा। वह दासी नीचे उतरी और हाथ जोड़कर मुनि अरणक के समक्ष खड़ी हो गई, मिश्री से भी अधिक मीठी बोली बोलने लगी- आप जला डालने वाली इस भीषण गर्मी में यहाँ क्यों खड़े हैं? हवेली के भीतर चलिये- अन्दर शीतलता और सुख के सभी साधन मौजूद हैं। इसे आप अपनी ही समझिये।

मुनि अरणक के व्यथित मन में उस समय 'क्यों, कौन, कैसे' का कोई प्रश्न पैदा नहीं हुआ। होगा सो देख लेंगे, अभी तो कहीं भी इस गर्मी की जलन से छुटकारा पाया जाये। वे उस वेश्या (दासी) के पीछे चलने लगे। जैसे ही कक्ष में प्रवेश किया वेश्या उनकी आँखों में अपनी आँखों का जैसे सारा प्रेम उडेलकर उन्हें भीतर ले गई। सुसज्जित कक्ष में उन्हें बिठाया, दासियों को पंखा झलने एवं शीतल सुगंधित जल लाने का कहा तथा स्वयं प्रणय मूर्ति के समान उनके सामने खड़ी रहकर पूछने लगी- आर्य, आप कौन हैं और कहाँ जा रहे थे?

मैं साधु हूँ और भिक्षा हेतु आया था किन्तु गर्मी से घबरा उठा हूँ- मुनि अरणक बोले।

आपका यह उभरता हुआ यौवन, विशाल भाल नेत्र, कान्ति से प्रदीप्त होती देह और आप साधु हैं-

आश्चर्य की बात है। भोग भोगने का समय और आप संयम धारण किये हैं। क्या यह आपकी नादानी नहीं है?

अरणक कुछ न बोले। ऐसा लगा, जैसे उस वेश्या की बात उन्हें भा रही हो। वह उसी समय बिखर गया- टूट गया। अरणक का 'मुनि' विशेषण समाप्त हो गया।

हवेली और हवेली की स्वामिनी में समा गये अरणक- खो गये संसार के राग-रंग में, भूल गये अपने स्वर्गीय पिता को और विसर गये अपनी जीवित माता आर्या भद्रा को भी। सबको क्या, वे तो अपने आपको भी भूल गये थे।

मुनि अरणक भिक्षाचरी को गये और वापिस नहीं लौटे। साथी मुनियों ने नगर में सब ओर खोज की किन्तु वह मुनि कैसे- कहाँ मिलता, जिसे वेश्या की हवेली निगल गई हो? मुनि अरणक के गुम हो जाने का समाचार चारों ओर फैला और वह आर्या भद्रा तक भी पहुँचा।

आर्या भद्रा इस समाचार को सह न सकी, क्योंकि तब तक भी वह आर्या की अपेक्षा माता ही अधिक बनी हुई थी। उसका अरणक गुम हो गया है- यह उसके लिये घातक आघात था। वह अकेली ही निकल पड़ी अपने बेटे को खोज निकालने के लिये।

गाँव, नगर घूमती, जंगल-जंगल छानती, नगर की गली -गली तलाशती और आगे बढ़ जाती। भटकते-भटकते लम्बा अर्सा गुजर गया, परन्तु भद्रा का अरणक उसे नहीं मिला।

वह घूमती रही, थकती रही- उसका मन और तन टूट गया। धीरे-धीरे वह आपा खोने लगी और पागलपन की सीमा में पहुँच हुई। पागलों की तरह वह दौड़ती जाती और चीखती रहती- बेटा अरणक, बेटा अरणक!

एक दिन प्रेमी युगल गवाक्ष में चौसर की बाजी जमाये हुए बैठा था। वे दोनों जैसे पांसों में डूबे हुए थे और उससे भी अधिक घोर गहराई तक डूबे हुए थे एक-दूसरे के तन में और उसके माध्यम से मन में। अरणक का पूरा संसार वेश्या की सुन्दर देहयष्टि में समाविष्ट हो गया था। उससे बाहर का उसे कोई ख्याल नहीं रहा- अपनी बूढ़ी माँ का भी नहीं।

और बूढ़ी माँ अपने उस कृतघ्नी बेटे के लिये पागल हो गई थी- रात-दिन बेटा अरणक, सोते जागते बेटा अरणक और चलते-फिरते सिर्फ बेटा अरणक। ये दो शब्द ही उसके मुँह से तन-मन से बंधे रह गये थे- बाकी वह सबकुछ भूल चुकी थी। किन्तु इन्हीं दो शब्दों का प्रभाव जीवन में महान परिवर्तन ले आया। युवा शरीर से बंधा हुआ मन भी अन्ततोगत्वा इन शब्दों की उपेक्षा न कर सका।

गवाक्ष के नीचे उसी गली में ये दो शब्द गूंजे और गहराए- बेटा अरणक, बेटा अरणक! अरणक चौंका- उसे बेटा कहने वाला यह कौन है? उसे याद आया कि उसे बेटा कहने वाली कोई इस संसार में अभी जीवित है। वेश्या ने उसका ध्यान चौसर की बाजी की तरफ बहुत खींचा, पर अरणक हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ- गवाक्ष से गर्दन बाहर निकालकर चारों ओर देखने लगा।

देखता क्या है कि गवाक्ष के नीचे ठीक उसी जगह जहाँ गर्मी से घबराकर खड़ा हुआ था- एक अतिशय वृद्धा साध्वी खड़ी हुई चीख रही है- बेटा अरणक, बेटा अरणक! चेहरा इस कदर झुर्रियों से भरा हुआ कि पहचाना तक नहीं जाता। साधुवेश किन्तु जीर्ण-शीर्ण वस्त्र जगह-जगह फटे-उधड़े हुए। पैरों की बिवाइयाँ फटी हुई- खून जमा हुआ। सारा शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया था। क्या यही है उसकी प्यारी माँ और जन्म देने वाली माँ? क्या दुर्दशा हो गई है इसकी? दुर्दशा हो कहाँ गई- इसके दुष्ट बेटे ने कर दी है और वह दुष्ट मैं हूँ- अरणक का अन्त:करण झनझना उठा।

वह नीचे उतरा, भागा और माता के चरणों में लोट गया। अरणक पैरों में अपना सिर लगाता रहा,

बोल कुछ न सका- आंसुओं से गला रूंध गया था।

बहुत देर तक न भद्रा हिली और न अरणक, किन्तु उनके अन्त:करण बुरी तरह से आन्दोलित हो रहे थे। भद्रा की चेतना लौट रही थी- प्रसन्नता का पुट उस पर चढ रहा था। अरणक की चेतना भी लौट रही थी- एक आत्मघाती नींद से जाग रही थी। उस पर पुट चढ़ रहा था पश्चात्ताप का- क्या अनर्थ कर दिया उसने? साधुत्व से भ्रष्ट हुआ किन्तु सांसारिकता के ऐसे गहरे दलदल में फंस गया कि कुछ भान ही नहीं रहा। घोर पश्चात्ताप का विषय बन गया उसका वह पतन और वह पश्चात्ताप प्रायश्चित्त में बदल जाने को आतुर हो उठा।

पुत्र ने ही बड़ी कठिनाई से अपने होठ खोले- माँ, मैं तुम्हारा कपूत सिद्ध हुआ- संसार छोड़कर फिर से संसार में फंस गया- अपना सबकुछ भूल गया। मुझे क्षमा कर दो मेरी माँ, मुझे क्षमा कर दो। मैं अपने इस पाप का कठोर प्रायश्चित्त करूंगा और आत्मशुद्धि की सर्वोच्चता तक पहुँचूंगा।

माँ फिर भी कुछ न बोल सकी, उसने बेटे को छाती से लगा लिया, उसे बड़ी देर तक चिपकाये रही और सिसक-सिसककर रोती रही। जब उसका मन कुछ शान्त हुआ तो वह बोली- अवश्य अरणक अवश्य, जो कुछ हुआ वह अवश्य ही प्रायश्चित्त की

अग्नि में जल जायेगा और मेरा सोना तपकर कुन्दन बन जायेगा। आत्मशुद्धि की आशा कभी भी लुप्त नहीं होनी चाहिये। चलो हम दोनों आचार्य के पास चलते हैं एवं उन्हीं से प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।

वेश्या यह दृश्य देखती ही रही। अरणक की मुखमुद्रा पर जो नया तेज उभरा था उसके आगे उसे कुछ भी कहने का साहस न हुआ। उसका मन यही हुआ कि वह भी उसी तेज का अनुसरण कर ले।

आचार्य के चरणों में पुनः मुनि बने अरणक ने निवेदन किया- भगवन्, मैं भीषण ताप से व्यथित हो गया और अपने संयम धर्म से पतित। पतन में मैं उत्तप्त शय्या पर सोया हूँ, तब उसका यही प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ कि अब मैं तप्त शिलाखंड पर ध्यानस्थ हो जाऊं एवं समाधिमरण को प्राप्त करूं।

वज्र से भी अधिक कठोर बन गया मुनि अरणक का शुभ संकल्प। प्रचंड सूर्यातप से तप्त शिलाखंड पर ध्यानस्थ बैठ गये मुनि अरणक। कठोर प्रायश्चित्त का अनुपम आदर्श था वह कि इसी प्रायश्चित्त से उन्होंने केवलज्ञान केवल-दर्शन का वरण कर लिया।

स्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र निर्युक्ति

सार- प्रायश्चित्त की आग में मलिन आत्मा भी परमशुद्ध हो जाती है। ❖ ❖ ❖

न खाओ नन्दी फल

चम्पानगरी के सभी नागरिक सुनें और अपनी इच्छा एवं आवश्यकता के अनुसार निर्णय लें- घोषणा की जाती है कि श्रेष्ठि धन्य अपना व्यापारिक दल लेकर इस बार अहिच्छत्रा नगर को प्रयाण कर रहे हैं, अत: अभावग्रस्त नागरिक उनके साथ चल सकते हैं। जिनके पास वस्त्र नहीं होंगे, उन्हें वे वस्त्र देंगे। जिनके पास भोजन या भाड़ा नहीं होगा वह उन्हें दिया जायेगा अथवा जिसके पास जो भी सुविधा उपलब्ध नहीं होगी वह सुविधा श्रेष्ठि अपने पास से उसे सुलभ करायेंगे। वे यहाँ से प्रस्थान करेंगे अत: सभी ऐसे व्यक्ति उनके साथ चलने के लिये तैयार रहें- ढ़ोल बजाने के साथ यह घोषणा नगर के सभी मुख्य भागों में कर दी गई।

धन्ना चम्पानगरी का प्रमुख सार्थवाह एवं व्यापारी था। वह दूरस्थ देशों में दल लेकर व्यापारार्थ जाया करता था। इस कारण उसे अधिक लाभ का

उपार्जन भी होता था तथा बीहड़ मार्गों से कठिन यात्राओं का अनुभव भी। वह धर्मनिष्ठ, उदारहृदय तथा सर्व सहयोगी भी था। इसी भावना से, उसने यह घोषणा करवाई थी ताकि अहिच्छत्रा जैसे दूरस्थ नगर तक पहुँचने के लिये जिनके पास आवश्यक साधन नहीं है अथवा परिपक्व अनुभव नहीं है, वे सुविधा एवं सुरक्षापूर्वक उसके दल के साथ चलकर अपने गंतव्य को प्राप्त कर सकें।

वस्तुतः अनेकानेक व्यक्ति धन्य सार्थवाह के साथ चलने के लिये तैयार हो गये। प्राचीनकाल में लम्बी दूरी भी घोड़ों, रथ आदि से ही पार की जाती थी, इस कारण यात्रा में पर्याप्त समय के साथ पर्याप्त साधन एवं सुरक्षा की भी आवश्यकता पड़ती थी अतः एकांकी यात्रा प्रायः कठिन ही होती थी। दल के साथ यात्रा की सबको प्रतिक्षा रहती थी। श्रेष्ठि ने सबसे पहले सबको वांछित साधनों की पूर्ति की। फिर पूरी तैयारी के साथ धन्य सार्थवाह का कारवां अहिच्छत्रा नगर की ओर चला।

मार्ग में चौड़े पाट वाली नदियाँ पड़ी तो ऊँचे-ऊँचे पर्वत। तंग घाटियों में होकर कभी कारवां चलता तो कभी बीहड़ वन प्रदेशों में। जहाँ कोई नगर

या गाँव आता या कि साफ मैदान मिलता, वहीं कारवां अपना पड़ाव डाल देता। भोजन, विश्राम आदि से निवृत्त होकर कारवां फिर आगे चल पड़ता। धन्य श्रेष्ठि की सारी व्यवस्था उतनी सुनियोजित एवं सुखकारक थी कि साथ के सभी यात्री मार्ग की जटिल कठिनाईयों के उपरान्त भी सन्तुष्ट एवं प्रसन्न थे।

कई दिनों की यात्रा के पश्चात् जब एक लम्बी, लुभावनी तथा खतरों भरी अटवी का क्षेत्र आरंभ हुआ तो वहाँ कारवां ने पड़ाव डाल दिया ताकि दूसरे दिन बड़े सवेरे प्रस्थान करके यथासाध्य दिन-दिन में उस अटवी की यात्रा पूरी की जा सके। सभी यात्री जब भोजन से निवृत्त हो गये तो सबको एकत्रित करके धन्य सार्थवाह ने एक महत्त्व की बात सबको बतलाई- हे देवनानुप्रियों! यह अटवी डरावनी है तो लुभावनी भी है। इस अटवी में आपको कई प्रकार के वृक्ष एवं उन पर लगे फल आदि दिखाई देंगे। सूर्य के ताप से बचने के लिये आप वृक्षों की छाया में विश्राम भी करना चाहेंगे। मैंने इस अटवी की कई बार यात्रा की है अत: आपको इसके खतरों से सावधान कर देना मैं अपना प्रथम कर्त्तव्य समझता हूँ- इसमें अनेक जातियों के वृक्षों में नंदी जाति के वृक्ष भी हैं, जिन पर लगने वाले

फल नंदीफल कहे जाते हैं। इनकी विशेषता यह है कि अन्य सभी वृक्षों एवं फलों की अपेक्षा ये अधिक लुभावने, सुन्दर और मनोज्ञ प्रतीत होते हैं- इतने कि हर किसी का मन अन्य सब वृक्षों एवं फलों को छोड़कर पहले उनकी ओर जाने तथा उन फलों को चखने का होता है। यह आकर्षण सामान्य नहीं होता, बल्कि इनकी ओर आकर्षित होने से मन को रोक पाना बड़ा कठिन हो जाता है..... देखने में ये वृक्ष अति सुन्दर एवं इनके फल अति मोहक लगते हैं। ये वृक्ष गहरे हरे रंग के हैं और अधिकांशत: सघन होते हैं। ये पत्तों, पुष्पों एवं फलों से लदे रहते हैं। किन्तु आपको सावधानी यह दिलानी है कि ये नंदी वृक्ष विषवृक्ष होते हैं। इनकी छाया पहले बड़ी सुखकर लगती है और इनके नंदीफल तो इतने मधुर एवं स्वादिष्ट प्रतीत होते हैं कि इनको छोड़कर अन्य फल खाने की इच्छा ही नहीं होती। किन्तु ये नन्दीफल भी मधुर विष के समान हैं, जो धीरे-धीरे रक्त में घुलकर अकाल मृत्यु कराते हैं। अत: जिन्हें जीवन प्रिय हो, वे न तो नंदीवृक्षों की छाया में बैठे और न ही नंदी फलों का सेवन करें। अन्य वृक्ष और उनके फल प्रारंभ में सामान्य से लगेंगे किन्तु उनकी छाया एवं फलों का

उपभोग करना हितावह होगा। शुरू में वे इतने मनोज्ञ प्रतीत नहीं होंगे, किन्तु धीरे-धीरे उनसे स्वस्थता आयेगी एवं भविष्य में सर्वप्रकारेण सुख प्राप्त होगा। ठीक उसी तरह जिस तरह इस संसार में पाँचों इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुख प्रारंभ में अति आकर्षक एवं सुखदायक प्रतीत होते हैं किन्तु अन्ततः जीवन विनाशक एवं आत्मघातक सिद्ध होते हैं। प्रथम आकर्षण में फंस जाने वाला व्यक्ति अन्ततोगत्वा भीषण दुःखों को प्राप्त करता है- अतः मेरा अनुरोध है कि सभी यात्री इस यथार्थ को समझें तथा इस अटवी के नंदीफल न खवें। यह सतर्कता दिलाना यात्री दल नायक की दृष्टि से मेरा दायित्व था, अब आपका कर्त्तव्य है कि आप मेरी बात मानने में अपने विवेक का परिचय दें तथा अपने जीवन की सुरक्षा करें।

उस अटवी के इस लुभावने परन्तु घातक तथ्य का विवरण सुनकर कई यात्री नंदीवृक्ष एवं फल के प्रति सावचेत हो गये तो कई यात्रियों का मन कौतूहल से भर उठा कि कैसी होती है नन्दीवृक्ष की छाया की सुविधा तथा कैसा होता है नन्दी फलों का अद्‌भुत स्वाद?

कारवां ने अटवी में प्रवेश किया। जो-जो लक्षण नन्दी वृक्ष तथा फल के धन्य श्रेष्ठि ने बताये थे

उनके आधार पर सभी यात्रियों ने उनकी भली-भाँति पहचान कर ली। जिन्होंने अपने मन पर अंकुश लगाया और संयम बरता, वे उन नंदी वृक्षों तथा फलों की मनोज्ञता का आभास पाकर भी उनसे दूर-दूर रहे, न तो वे उनकी छाया में बैठे और न ही उन्होंने उन फलों का आस्वादन किया। कई बार उनका मन ललचाया, वे अधीर भी हुए, परन्तु वे आत्म-नियंत्रण को दृढ़ता से धारण किये रहे। उन्होंने धन्य श्रेष्ठि की बात गांठ बांध ली थी कि वे मीठा जहर खाकर अकाल मृत्यु का वरण करना नहीं चाहेंगे, क्योंकि यह मानव जीवन दुर्लभ होता है और उसका चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में ही सदुपयोग किया जाना चाहिये।

किन्तु कई यात्री उस आकर्षण के प्रति अपने मन को रोक नहीं पाये और वे छाया तथा फल दोनों का हंसते-हंसते उपभोग करने लगे। वे नंदी फल का उपभोग करते हुए कहते- धन्य श्रेष्ठि का कथन सत्य नहीं है। यह छाया तो ऐसी शीतल और सुखदायी है कि मन इसी अटवी में हमेशा के लिये बस जाने को करता है एवं नंदी फल- इनकी मधुरता व कोमलता तथा इनके स्वाद का तो वर्णन करना ही कठिन है। इन फलों का रसास्वादन करके तो हम कृतकृत्य हो गये

हैं। हम तो अब इस अटवी को छोड़ना ही नहीं चाहते हैं।

कारवां धीरे-धीरे अटवी में आगे बढ़ रहा था। नंदी फल खाने वालों की सराहना सुनकर कई फल न खाने वालों का चित्त चंचल होने लगा। उनमें कई व्यक्ति अपने आत्म-नियंत्रण को खोने लगे तथा संयम खोकर उन पर टूट पड़े- खाने लगे तो इतने और इस तरह कि उन्हें अपने शरीर-सामर्थ्य का भी भान नहीं रहा। संयम के अनुशासन में चलने वाले शान्त एवं समभाव से आगे चलते रहे।

फिर एक नया परिवर्तन सामने आया। जिन लोगों ने फल आये थे और अतिशय परिमाण में खाये थे, उनके शरीर में नाश एवं मृत्यु के घातक लक्षण प्रकट होने लगे- उन्मादवश किन्हीं के शरीर शिथिल होने लगे थे तो किन्हीं को बहुवमन व शौच की पीड़ा हो गई। किसी को कुछ और किसी को कुछ। नंदी फल खाने वाले सभी किसी न किसी वेदना से ग्रस्त हो गये। यह दशा देखकर वे व्यक्ति, जिन्होंने नंदीफल नहीं खाया था आत्मतुष्ट होकर अपूर्व आनन्द से पुलकित हो उठे तथा वे व्यक्ति जिनका मन अभी तक नंदी फल न खाने के उपरान्त भी चंचल बना हुआ था, अपने संयम में सुस्थिर हो गये।

अन्ततोगत्वा उस लुभावनी, डरावनी और खतरोंभरी अटवी को वे ही यात्री पार कर सकें जो नन्दी वृक्ष की छाया तथा नन्दी फलों के स्वाद के प्रलोभन से बचे रहे। शेष यात्री लोभ से, आत्म-नियंत्रण के अभाव से अथवा अवश दशा से उसी अटवी में भटकते हुए रह गये।

धन्य सार्थवाह आत्म-संयम में स्थिर यात्रियों के साथ अहिच्छत्रा नगर पहुँचा। अपनी व्यापारिक वस्तुओं का विक्रय करके उसने वहाँ पर विपुल लाभ का अर्जन किया। फिर वास्तविक आनन्द की अनुभूति ले रहे यात्रियों को लेकर वह चम्पानगरी लौट आया।

धन्य इस सत्य को भली प्रकार जानता था कि यह संसार भी नंदी फल के समान है, जिसको देखकर सामान्य प्राणी खाये बिना नहीं रहता और खाकर ऐसा विनाश भुगतता है कि फिर उसे कभी खाना नहीं चाहता। आत्माभिमुखी प्राणी जागृत ही रहता है। उसने भी स्थविर भगवान के समीप दीक्षा ग्रहण कर ली और वह मोक्ष मार्ग पर चल पड़ा।

स्रोत- ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र।

सार- कामभोगों के त्याग से ही सत्य अर्थ मिलता है। ❖ ❖ ❖

एक-एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ

जीवन का मूलाधार यदि कोई एक गुण माना जाये तो वह अवश्य ही विवेक होगा। विवेक वह चेतना होती है जो व्यक्ति को विकास-पथ पर गतिमान रखती है। विवेक की मात्रा अभिवृद्ध होती रहती है तो पुरुषार्थ की प्रबलता भी बढ़ती जाती है। वही पुरुषार्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के क्षेत्रों में अपनी प्राभाविकता दिखाते हुए जीवन के चरम लक्ष्य को भी प्राप्त करा देता है। यों जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में- चाहे वह आध्यात्मिक हो या लौकिक, विवेकपूर्ण पुरुषार्थ सर्वत्र विजयी होता है। किन्तु जब किसी के हृदय में विवेक का दीपक ही बुझ जाता है तो फिर उसकी विगति एवं उसके पतन का कोई ठिकाना नहीं रहता।

एक दिन एक श्रेष्ठि ने भी विवेक के विषय पर गहरा चिन्तन किया और जानना चाहा कि उसके तीनों पुत्रों में विवेक की मात्रा कितनी है और उस

विवेक के आधार पर वे अपने जीवन में किस प्रकार की गति से चल पायेंगे। यह निर्णय निकालना उसे इस कारण आवश्यक लगा कि उसकी वर्तमान सम्पत्ति का संवर्धन या संरक्षण करने में कौनसा पुत्र सर्वाधिक समर्थ रहेगा।

श्रेष्ठि ने अपने तीनों पुत्रों को बुलाया और कहा- पुत्रों! मैं वृद्ध हो चला हूँ तथा चाहता हूँ कि तुम सारे व्यापार-व्यवसाय का भार सम्हाल लो। तुम जानते हो कि व्यापार व्यवसाय में भी समुन्नत विवेक की आवश्यकता होती है। सतत् विवेकशील व्यक्ति ही इसमें सफलताएँ अर्जित कर सकता है तथा अपने वंश की प्रतिष्ठा को बढ़ा सकता है। तुम तीनों की विवेक शक्ति की इस हेतु मैंने परीक्षा करने का निश्चय किया है।

कैसी परीक्षा देनी होगी हमें इस हेतु पिताश्री? ज्येष्ठ पुत्र ने विनय सहित पूछा।

परीक्षा किसी भी प्रकार की हो सकती है, परन्तु मुझे जानना यह है कि तुम तीनों में सर्वाधिक विवेकशील कौन है? उसी को मुख्य कार्यभार सम्हलाकर अब मैं निश्चिन्त हो जाना चाहता हूँ।

पिताजी! इसमें परीक्षा की क्या आवश्यकता

है? आप अपनी समस्त सम्पत्ति का हम तीनों में विभाजन कर दीजिये, फिर प्रत्येक पुत्र अपने कार्यों के लिये स्वयं ही उत्तरदायी होगा- तीसरे पुत्र ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपने पिता को अपना सुझाव दिया।

पुत्र! तुम्हारा सुझाव ही उत्तरदायित्वहीन है तो विभाजन के बाद तुम जैसा पुत्र किसके प्रति उत्तरदायी होगा? कौन उससे उत्तर लेगा और किसको वह उत्तर देगा?

मेरा आशय तो यही था पिताश्री कि उत्तर वह अपने आपको ही देगा अर्थात् अपनी करनी का फल वही भुगतेगा- तीसरा पुत्र फिर बोला और चुप हो गया।

दूसरे पुत्र ने कहा- परीक्षा से अवश्य ज्ञात हो जायेगा पिताश्री, प्रत्येक का विवेक सामर्थ्य और उसी के आधार पर गृहस्थी की व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिये ताकि वंश की प्रतिष्ठा बनी रहे और बढ़े।

श्रेष्ठि ने तब विवेक-परीक्षा की अपनी योजना बताई- पुत्रों! इसी समय तुम में से प्रत्येक को मैं एक-एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ दे रहा हूँ। तुम इन्हें लेकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में दूरस्थ प्रदेशों को जाओ और तीन वर्ष बाद लौटकर मुझे अपनी गति-प्रगति से परिचित करो।

यह कहकर उसने प्रत्येक पुत्र को एक-एक हजार स्वर्ण मुद्राओं की थैली सौंप दी।

दूसरे दिन तीनों पुत्र भिन्न-भिन्न दिशाओं में यह सोचते हुए चल दिये कि इस थैली के द्वारा उनकी परीक्षा कैसे होगी?

सबसे बड़े पुत्र ने मार्ग पर आगे बढ़ते हुए विचार किया- पिताजी को उसके विवेक की परीक्षा लेनी है और उसका माध्यम है यह थैली। इसका अभिप्राय यही समझा जा सकता है कि एक श्रेष्ठि पुत्र स्वविवेक से इस प्रदत्त पूंजी को नीति एवं ईमानदारी से किस प्रकार और कितनी बढ़ा सकता है। यह राशि जितनी अधिक बढ़ाई जा सकती है, उसी के अनुसार परीक्षा में उसकी सफलता का अंकन किया जायेगा। अतः उसके लिये उचित होगा कि वह किसी प्रकार प्रधान नगर में बस जाये और इस पूंजी से व्यापार आरंभ करके अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करे। लगन है और पुरुषार्थ होगा तो उसे विश्वास है कि वह सफल भी अवश्य होगा। इस विचार के साथ वह एक वैसे ही नगर में बस गया तथा उस पूंजी से उसने छोटे पैमाने पर अपना व्यापार आरंभ कर दिया।

मंझला पुत्र सुखभोगी अधिक था, परिश्रमी

कम। उसने सोचा- पिताजी ने परीक्षा लेने की बात कही है तो उसका अभिप्राय यही माना जाना चाहिये कि मैं इस प्रदत्त पूंजी की पूर्णतया सुरक्षा करूं। पूंजी न रहेगी तो प्रतिष्ठा कहाँ से रहेगी? पूंजी थोड़ी हो या अधिक- एक श्रेष्ठिपुत्र को अपनी पूंजी का संरक्षण अवश्य करना चाहिये। मैं ऐसा करूं कि किसी नगर में बसकर इस पूंजी को ब्याज पर चढ़ा दूं ताकि मेरा व्यय ब्याज से चलता रहेगा और मूल पूंजी बराबर बनी रहेगी। जब मैं अपने पिताजी को उनकी दी हुई पूंजी यथावत् लौटा दूंगा तो परीक्षा में मुझे अवश्य ही सफल मानेंगे।

यह निश्चय करके मंझला पुत्र भी एक नगर में बस गया और एक हजार स्वर्ण मुद्राओं से ब्याज कमाने लगा। विवेक तो उसमें था, पर पुरुषार्थ का अभाव था सो सुख से रहता और ब्याज की आय से अपना निर्वाह व्यय चलाता।

श्रेष्ठि का सबसे छोटा पुत्र कुछ अलग ही प्रकृति और प्रवृत्ति वाला था। मार्ग में चलते हुए उसे क्रोध चढ़ता जा रहा था- पिताजी वृद्ध हो गये फिर भी अपनी पूंजी से उनका मोह छूटा नहीं है। आगे क्या देंगे और क्या नहीं- इसका तो कुछ पता नहीं, परन्तु अभी तीन वर्ष के व्यय के नाम पर मात्र एक हजार

स्वर्ण मुद्राएँ देकर अपने पुत्रों को घर से निकाल दिया। समुचित निर्वाह तक की पर्याप्त राशि दी नहीं है और लेने चले हैं विवेक की परीक्षा? खाने को भी पूरा नहीं, तब क्या देंगे और लेंगे परीक्षा? उनके स्नेह और विचार पर मुझे तो हैरानी है। हम श्रेष्ठिपुत्र हैं, कोई भिखारी नहीं जो रूखा-सूखा खा लेंगे और बिता देंगे तीन वर्ष? जो आगे होगा सो देखा जायेगा, अभी इन एक हजार स्वर्ण मुद्राओं का आनन्द तो लूट लूं। तो ऐसा करूं कि किसी सुन्दर नगर में बसकर रसिक जनों का संग खोज लूं और किसी कमनीया कान्ता के साथ राग-रंग करूं। यह सोच वह ऐसे एक नगर में बस गया। जैसे को तैसे लोग मिल भी जाते हैं। उसे भी उसकी परिभाषा के रसिक जन मिल गये और वह एक वेश्या का अंकशायी बन गया।

तीन वर्ष की अवधि समाप्त होने पर तीनों पुत्र अपने-अपने स्थानों से अपने घर को लौटे।

पिता ने यह उचित समझा कि अपने तीनों पुत्रों के अनुभव लेकर, उनकी उपलब्धियाँ जानकर तथा उनके सम्पूर्ण यात्रा विवरण को सुनकर उनके विवेक एवं पुरुषार्थ का निष्कर्ष उसके सभी स्नेही-सम्बन्धी मिलकर निकालें तो वह अधिक उपादेय एवं मान्य होगा। तदनुसार उसने अपने सभी परिजनों एवं स्नेहीजनों

को एकत्रित किया तथा उनके सामने अपने तीनों पुत्रों को भी बुलाया।

श्रेष्ठि सर्वप्रथम अपने ज्येष्ठ पुत्र की ओर उन्मुख हुआ और बोला- पुत्र! सुनाओ कि तुम्हारी यात्रा कैसी रही? तुम्हारे स्वास्थ्य, वस्त्र परिधान आदि को देखते हुए प्रतीत होता है कि तुमने अर्थोपार्जन की दिशा में यथेष्ठ प्रगति की है।

पिताश्री! आपके सामने मेरी प्रगति का कोई महत्त्व नहीं। आप द्वारा दी गई एक हजार स्वर्ण मुद्राओं से मैंने छोटा-सा व्यापार आरंभ किया, किन्तु अपने विवेक को सदा जागृत रखा तथा पर्याप्त पुरुषार्थ भी किया, जिसके फलस्वरूप इस समय मेरी पूंजी दस लाख स्वर्ण-मुद्राएँ हो गई है- यह कहकर वह बाहर गया और बीस स्वर्ण मुद्राओं से भरे थैले मंगवाकर उसने अपने पिता के चरणों में रखवा दिये।

मंझले पुत्र ने सोचा भी नहीं था कि पिता द्वारा दी गई राशि का ऐसा भी किया जा सकता था। उसे संवर्धन का तो ध्यान भी नहीं आया, कारण उसका ध्यान पुरुषार्थ और परिश्रम पर टिकता भी नहीं था। उसने तो संरक्षण को ही सबकुछ माना तथा प्रदत्त एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ यथावत् वापिस ले आया। पिता द्वारा पूछने पर उसने उत्तर दिया- पिताश्री! मैंने आपकी पूंजी

की एक पाई भी बरबाद नहीं की है, बल्कि अपना सारा निर्वाह व्यय भी इससे ब्याज उपजा कर चलाया है। यह लीजिये आपकी प्रदत्त पूरी की पूरी पूंजी- कहकर उसने अपनी स्वर्ण मुद्राओं की थैली पिता को लौटा दी।

जब सबकी दृष्टि सबसे छोटे पुत्र की ओर मुड़ी तो सब स्तब्ध रह गये- सूखा शरीर, सामान्य वस्त्र, वे भी जीर्ण-शीर्ण, मुँह पर हवाईयाँ उड़ रही थी, पर आँखों में आक्रोश का भाव। पिता ने उससे पूछा- कैसी रही तुम्हारी यात्रा और क्या किया तुमने अपनी एक हजार स्वर्ण मुद्राओं के साथ? तुम्हारी यह दुर्दशा मुझसे देखी नहीं जा रही है।

तीसरा पुत्र इस पर फट पड़ा, बोला क्या, चीखा ही- यात्रा की बात पूछते है आप? आप सोचिये तो सही कि आपने दिया क्या था- केवल एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ और पूछते हैं यात्रा का हाल? एक श्रेष्ठिपुत्र का इतनी सी राशि से तो हाल बेहाल ही होगा- क्या वह खाता और क्या मौज मनाता? उसकी आँखों से जैसे चिनगारियाँ निकल रही थी।

श्रेष्ठि ने कुछ तेज स्वर में कहा- तुम अपने को श्रेष्ठिपुत्र कहते हो और जानते भी हो कि एक श्रेष्ठिपुत्र के क्या लक्षण होने चाहिये?

और लक्षण क्या होंगे? यही कि एक श्रेष्ठिपुत्र

सुख से पला-पोसा होता है, सुख में जीता है और सदा सुख में रहना चाहता है।

पुत्र! सुख से रहने के लिये सुख की परिस्थितियों को बनाना होता है और ऐसा करना ही एक श्रेष्ठिपुत्र का लक्षण कहा गया है। परन्तु तुमने क्या किया- यह तो बताओ।

आपकी दी हुई छोटी-सी राशि तो छोटे से अर्से में ही पूरी हो गई। जी भरकर आनन्द भी नहीं उठा पाया कि पूंजी समाप्त हो जाने के कारण वेश्या ने धक्के मार कर अपने भवन से बाहर निकाल दिया- तब से आज तक सड़कों पर धक्के ही खा रहा हूँ। ऐसे में बेहाल नहीं होऊंगा तो और क्या होगा? अब आप मेरा पूंजी विभाजन कर ही दीजिये। मैं अब शान्त न रह सकूंगा।

सब सुनकर श्रेष्ठि को भारी खेद हुआ, रोष भी आया और चिन्ता भी उपजी। फिर भी सहनशील बने रहकर उन्होंने अपने स्नेही एवं परिजनों को सम्बोधित किया- आप सब मेरे आत्मीय हैं, अतः हितैषी भी। आपने मेरे तीनों पुत्रों के विवेक एवं पुरुषार्थ का विवरण सुना है, आप ही सुझाईये कि मैं अपने इन लौकिक उत्तरदायित्वों का अपने पुत्रों में विभाजन कैसे करूं, जिससे मेरी वंश प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रहे।

एक वयोवृद्ध अनुभवी परिजन ने अपना निष्कर्ष सुनाया- श्रेष्ठिवर! तुम्हारे तीनों पुत्र तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार के अधिकारी हैं और उसी के अनुसार उत्तरदायित्वों का विभाजन किया जाना चाहिये। तुम्हारा सबसे बड़ा पुत्र विवेकशील भी है तो परम पुरुषार्थी भी- तुम्हारे सारे व्यापार-व्यवसाय का संचालन उसी को सौंपा जाना चाहिये। मंझले पुत्र ने संरक्षण में अपनी निष्ठा दिखाई है अतः इसे कोष-संरक्षण का भार सौंपा जा सकता है। किन्तु तुम्हारे सबसे छोटे पुत्र में न विवेक है और न पुरुषार्थ, बल्कि वह मात्र भोगवादी है। इसके हाथों तो वंश का विनाश ही होगा। वह स्वयं डूब रहा है और समय आने पर सबको ले डूबेगा, अतः इसे तो अभी ही घर से निकाल दिया जाना चाहिये।

श्रेष्ठि ने सारी बात पर गहराई से सोचा और अपने वृद्ध परिजन का विचार मान्य किया। विवेकहीन को साथ रखना भी खतरे से खाली नहीं होता।

स्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र टीका।

सार- विवेक ही जीवन का प्रकाश होता है, अंधेरा ही अंधेरा।

❖ ❖ ❖

गूंगे का गुड़

हम तुम्हारे इस घोड़े की चाल परखेंगे और अगर वह हमें पसन्द आ गई तो हम घोड़ा अवश्य खरीद लेंगे, चाहे उसकी कीमत तुम कुछ भी कहो- राजा ने अश्व व्यापारी से कहा और कुछ सैनिकों को आदेश दिया कि इस घुड़सवारी में वे उसके साथ चलें।

राजा के अश्वारूढ़ होते ही उस घोड़े ने चाल पकड़ ली और नगर से बाहर होते-होते वह हवा से बातें करने लगा। राजा की लगाम बेकार रही और अश्व विद्युत् वेग से भागता ही रहा। साथ वाले सैनिक बहुत पीछे छूट गये और राजा का घोड़ा वन प्रदेश में बहुत दूर भीतर तक चला गया।

इधर घोड़ा पवन वेग से उड़ा जा रहा था और उधर ग्रीष्म ऋतु के कारण सूर्य का आतप सारे वन प्रदेश को इस तीव्रता से तपा रहा था जैसे वृक्षों की छाया तले ही प्राण सूखते हों। राजा के प्राण छटपटाने

लगे- तृषा के कारण। दूर-दूर तक वह अपनी नजर दौड़ा रहा था, पर कहीं भी जल या जल के लक्षण तक नहीं दिखाई दिये। अन्त में हार-थक कर घोड़ा एक वृक्ष के नीचे रुका तो राजा ने सोचा- जल न सही, वह कुछ विश्राम ही कर लें। परन्तु वह इतना थक चुका था और हाथ-पैर इतने ऐंठ गये थे कि चाहने पर भी वह घोड़े से नीचे नहीं उतर सका। तृषा और तपन से वह वहीं मूर्छित हो गया तथा नीचे भूमि पर अचेतन अवस्था में ही गिर पड़ा।

संयोग से उधर एक भील कुमार आ निकला। उसने राजा को देखा, अश्व को पास खड़े देखा और राजा के सूखे मुँह को देखा- वह भांप गया कि पानी न मिलने के कारण ही ऐसा हुआ है। उसके पास पानी था, उसने राजा के मुँह पर छींटे लगाये। उसके होश में आने पर उसने पानी पिलाया। राजा की अशक्ति देखकर उसने अपने पास रखे कन्दमूल-फल भी उसे खिलाये।

जब राजा स्वस्थ हुआ, अपने उस त्राता को देखा तो गद्‌गद हो गया, बोला- मेरे भाई, एक तरह से मैं तो मर ही चुका था, मुझे बचाकर तुमने मुझे नया जीवन दिया है। यह जीवन जब तक रहेगा, मैं तुम्हें कभी भी भुला न पाऊंगा।

भील कुमार भी नौजवान फक्कड़ था, कहने लगा- वाह भाई, तू भी निराला है। अपने पास का थोड़ा-सा पानी पिलाकर तेरी मूर्छा दूर कर दी तो मैंने कौनसा बड़ा काम कर डाला? अरे, यह तो प्रत्येक मनुष्य का सामान्य कर्त्तव्य है कि वह अपने किसी साथी को किसी कष्ट में देखे तो अवश्य यथाशक्ति सहायता करे। मैंने तो वही छोटा-सा कर्त्तव्य निभाया है।

यह तुम्हारे हृदय की निश्छल उदारता है जंगल के भोले भाई, तुम्हारा जल मुझे समय पर नहीं मिलता तो क्या मेरा जीवन रह पाता? और जो कन्द, मूल, फल तुमने मुझे खाने को दिये, वैसा स्वाद तो मैंने कभी अपने राजमहल के पकवानों में भी नहीं पाया।

सो तो ठीक है, लेकिन यह राजमहल क्या होता है?

राजमहल उसे कहते हैं, जहाँ राजा रहता है।

तो ऐसा कहो न कि वह राजा का घर होता है। मेरा भी घर है, राजा का भी घर होता होगा, लेकिन राजा के घर से तुम्हारा क्या?

भाई, असल में मैं एक राजा हूँ। जीवन बचाने के तुम्हारे ऋण से तो मैं कभी मुक्त नहीं हो पाऊंगा, किन्तु तुम से मेरा एक स्नेहभरा आग्रह है।

वह क्या?

यह कि जब कभी तुम मेरे नगर में आओ तो प्रतिज्ञा करो कि मेरे से अवश्य मिलकर ही जाओगे।

इसमें कौनसी खास बात है? अभी तक तो मैंने नगर देखा नहीं है, पर जब भी आऊंगा तो तुमसे मिले बिना न लौटूंगा। लेकिन अपना पता-वता तो बता दो।

किसी से भी पूछ लेना कि राजमहल किधर है- कोई भी बता देंगा। राजमहल में मैं मिल जाऊंगा।

अच्छा भाई, अवश्य आऊंगा। हाँ, अभी तुम मेरे साथ चलो सो इस बीहड़ वन से निकलने पर राजा के सैनिक भी मिल गये। राजा अपने नगर की ओर चला गया तथा भील पुनः अपने वन प्रदेश में।

क्यों भाई, राजा का घर किधर है? मुझे राजा से मिलना है- सहज भोलेपन से वह भील कुमार एक के बाद दूसरे नागरिक से पूछ रहा था और प्रत्येक नागरिक उसकी बात को विनोद में ले रहा था कि भला इस भील का क्या परिचय जो वह राजा से मिलना चाहता है- दिमाग की कोई न कोई कड़ी जरूर ढ़ीली हो रही है।

तब एक वृद्ध नागरिक ने उसे समझाया- अरे भील भाई, राजा का घर नहीं कहते, राजमहल कहते हैं। क्या काम है तुझे राजा से?

मेरे को क्या काम है? वही न्यौता देकर गया था सो जाना है- भील कुमार ने जो सच था वह सहज भाव से कह दिया।

इस पर उस वृद्ध को भी हंसी आ गई कि जंगल से आया वह भील जरूर कुछ चक्कर में है। फिर भी उसने उसे राजमहल का मार्ग बता दिया।

राजमहल के जब वह सामने पहुँचा तो यकायक ठिठककर खड़ा रह गया। वह आश्चर्य से देखने लगा- यह राजा का घर है, इतना बड़ा? मेरा घर तो बहुत छोटा है। इतने बड़े घर में वह कैसे रहता होगा- कहाँ-कहाँ भागता फिरता होगा? फिर वह सीधा द्वार के भीतर घुसने लगा कि द्वारपाल ने डपट दिया- कहाँ घुस रहा है? एक अदना-सा भील और धड़ाधड़ घुस रहा है राजमहल में? निकल बाहर।

भील कुमार चौंक पड़ा, तैश खाकर बोला- राजा से मिलना है, उसी ने मुझे यहाँ आने का न्यौता दिया था।

तब हंसने की बारी आई द्वारपाल की- यह मुँह और मसूर की दाल। वह ठठाकर हंसते हुए ही बोला- राजा का कौनसा काम अड़ गया था तेरे से भाई? बड़ा अजीब जीव है तू?

क्रोध से उबल पड़ा तब वह भील कुमार-

अच्छा न्यौता माना उसने राजा का, यहाँ तो उसे कोई कुछ समझता ही नहीं, जबकि राजा ने उसे इतना माना था। वह जोर की आवाज में बोला- क्या इस नगर में किसी को शिष्टता आती ही नहीं? जाओ तुम राजा से कह दो- एक भील कुमार मिलने आया है।

द्वारपाल उससे अपमानजनक कुछ और कहता कि ऊपर से गवाक्ष से राजा ने भील कुमार को देख भी लिया और उसके शब्द भी सुन लिये। वह भागा-भागा नीचे आया और भील कुमार का हाथ पकड़कर अपने साथ ऊपर ले गया।

भील कुमार का क्रोध राजा के स्नेह से गलकर बह गया और राजा के साथ रहकर वह आश्चर्य के तानों-बानों में जकड़ गया- जो कुछ भी देखता उसे अनूठा लगता और वह विस्मित हो जाता। कारण, उसने वैसा कुछ पहले कभी नहीं देखा था और जो वह देख रहा था यानि जिसका वह अनुभव ले रहा था, वह उसकी कल्पनाओं से भी परे था।

राजा के अनोखे ठाठबाठ, महल के एक-एक कक्ष की सजावट, उनमें अद्‌भुत साज-सामग्रियाँ, दरबारियों की आवाजाही, दास-दासियों का हुक्म बजाने का ढ़ंग-सबकुछ उसके लिये आश्चर्यजनक था। राजा ने भोजन करने के लिये उसे अपने साथ बिठाया- हीरे

जड़े थाल में अनेकानेक स्वादिष्ट व्यंजन परोसे गये- ऐसा स्वाद उसने पहले कभी नहीं चखा था। वह उन्हें खा रहा था, उनके स्वाद का अनुभव ले रहा था, पर उनका बखान नहीं कर सकता था। उसे सुलाया गया मखमली गद्दों वाले पलंग पर- अहा! कितना सुखकर लग रहा था- स्पर्श से ही गुदगुदी होने लगती थी। महल का प्रत्येक भाग उसे दिखाया गया- ऐसी अनदेखी कारीगरी कि वह देख-देखकर पागल हो उठा। वह सबकुछ देखकर ऐसा अनुभव कर रहा था, जैसे वह सब वास्तविक न होकर मात्र इन्द्रजाल हो।

राजा ने उसे जब तक जी चाहे राजकीय मेहमान के सम्मान के साथ ठहरने को कहा। नया सुख उसे बहुत प्रिय लग रहा था, वह ठहर भी गया। भाँति-भाँति के नये, अनोखे और अनदेखे अनुभव- वह तो विस्मय के मारे हैरान था। एक सप्ताह बीतते-बीतते उसे अपने जंगल के घर की याद सताने लगी और उसका यह चाव भी सताने लगा कि कितनी जल्दी घर पहुँचकर अपने सभी साथियों को वह ये नये अनुभव बतावे। एक दिन वह राजा को बिना बताये ही राजमहल से चुपचाप निकल गया और जंगल में अपने घर पहुँच गया।

भील कुमार के यों इतने दिन तक गुम रहने के बाद वहाँ पहुँचने पर उसके सभी साथी उत्सुकता से एकत्रित हो गये और पूछने लगे- तू कहाँ चला गया था? खुशी से पागल बने उसने कहा- मैं राजमहल गया था राजा का मेहमान बनकर। सबने दांतों तले अंगुली दबाई- अरे, राजा का मेहमान? क्या देखा तूने वहाँ पर, क्या खाया, क्या आनन्द लूटा? बता तो सही।

उसके मन में हजारों अनुभव भरे हुए थे, वह सबको सबकुछ विस्तार से बताना चाहता था किन्तु उसके पास शब्द नहीं थे। जो कुछ पूछा जाता, वह यही कहता- बहुत अच्छा था, बहुत बढ़िया था। उसके साथी जंगल की किसी वस्तु का नाम लेते कि क्या वह इस वस्तु जैसी थी। वह जोर देकर कहता- अरे, यह वस्तु तो कुछ नहीं, उससे हजार लाख गुना वह ज्यादा अच्छी थी।

नवीन आनन्द की अनुभूतियों से उसका अन्तःकरण ओत-प्रोत हो रहा था। उसे लगा- जैसे बताने को बहुत कुछ है परन्तु उस बहुत कुछ का थोड़ा बहुत भी बता पाने में वह अपने आपको असमर्थ महसूस कह रहा था। भोगकर वह उस राजसुख और वैभव का भीतर ही भीतर अनुभव तो ले रहा था- आनन्दित भी हो रहा था, किन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं

कर पा रहा था। कारण, उसने अपने वन जीवन में जो कुछ देखा और भोगा था, उसकी अपेक्षा नगर का वह राजकीय सुख उसके लिये इतना अपूर्व था कि उसकी अनुभूति तो वह ले रहा था, पर अभिव्यक्ति नहीं कर पा रहा था। ठीक उसी तरह जैसे एक गूंगा व्यक्ति गुड़ खाकर उसके स्वाद का अनुभव तो ले रहा होता है उस स्वाद को वह दूसरों पर प्रकट नहीं कर पाता है। इसी को कहा गया है- गूंगे का गुड़ गूंगा ही जाने।

आचार्य ने शिष्य को प्रतिबोधित किया- देवानुप्रिय! वनवासी भील के लिये जिस प्रकार राजकीय सुख का अनुभव अव्यक्त हो गया, उसी प्रकार जब साधक परमानन्द में डूबकर आनन्दानुभूति लेता है तो वह उसकी अनुभवता तो है पर दूसरों के समक्ष उसी रूप में प्रकट नहीं कर पाता है। आध्यात्मिक, आत्मिक या कि मोक्ष का सुख ऐसा ही अनिर्वचनीय होता है।

स्रोत- औपतातिक सूत्र।

सार- आध्यात्मिक आनन्द अनुभवगम्य होता है, शब्दगम्य नहीं।

❖ ❖ ❖

अरणि में अग्नि की खोज

कुछ लकड़हारे लकड़ियाँ काटकर लाने के उद्देश्य से जंगल की ओर चले। जहाँ से वन-क्षेत्र आरंभ होता था, एक साथी को उन्होंने वही रुक जाने को कहा। उन्होंने सोचा कि जब तक वे पर्याप्त लकड़ियाँ काटकर लौटेंगे, तब तक काफी देर हो जायेगी और उन्हें तेज भूख लग जायेगी, अतः यहाँ रुकने वाला उनका साथी खाना पकाकर उनके लिये तैयार रखेगा ताकि वे खा-पीकर गाँव को वापिस जायेंगे। उन्होंने अपने उस साथी को समझाकर कहा- देखो भाई, हम शाम ढलने तक लौटेंगे, अतः उस समय तक हमें खाना तैयार मिले। आस-पास से सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी कर लेना और यह अरणि की लकड़ी लो। इसमें आग होती है सो इससे आग जलाकर खाना पका लेना।

तब उन्होंने अपने वहाँ रुके साथी को अरणि

की लकड़ियाँ दे दी और लकड़ियाँ काटने के लिये घने वनक्षेत्र में चले गये।

सभी लकड़हारों के चले जाने के बाद उनके उस साथी ने सोचा- अभी तो वे गये ही हैं, सारा दिन पड़ा हुआ है सो खाना बाद में तैयार कर लूंगा। यह सोच वह वृक्ष की छाया में सो गया और गहरी नींद में खर्राटे भरने लगा।

जब उसकी नींद खुली तब शाम ढलने लगी थी। वह घबरा गया कि उसके साथी आने ही वाले हैं और वह खाना तैयार नहीं कर पाया- सब नाराज हो जायेंगे। तब उसने जल्दी-जल्दी सूखी लकड़ियाँ चुनी और अरणि की लकड़ी में अग्नि की खोज करने लगा।

उसने अरणि की लकड़ी का एक-एक छिलका छील-छीलकर बिखेर दिया, पर वह हैरान कि उसे उसमें अग्नि कहीं भी दिखाई न दी। वह कैसे आग लगावे और भोजन पकावे? उसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ रहा था। उसने अरणि की लकड़ी के छिलकों का भी रेशा-रेशा अलग किया, फिर भी आग कहीं दिखाई नहीं दी। उसने दूसरी अरणि की लकड़ियों को छीलना उचित नहीं समझा- जब एक लकड़ी के टुकड़े में आग नहीं मिली है तो दूसरे टुकड़ों में भी उसके मिलने

की कोई संभावना नहीं है। फिर वह उदास होकर बैठ गया।

तभी उसके सभी साथी लकड़ियों के गठ्ठर उठाये, थके मांदे वहाँ आ पहुँचे। वे भूखे भी थे और भोजन करने के लिये आतुर थे। आते ही उनमें से एक ने अपने साथी से पूछा- क्यों भाई, खाना तो पका हुआ तैयार है न? हम बुरी तरह थक गये हैं और भूख जोरों से लग आई है। जल्दी-जल्दी हमें खाना परोस दो।

उनका साथी झल्लाकर बोला- तुम सबने मुझे अच्छा मूर्ख बनाया। मैंने अरणि की लकड़ी का एक-एक छिलका और उसका एक-एक रेशा उतार फैंका, परन्तु उसमें मुझे कहीं भी अग्नि दिखाई न दी, फिर बिना आग के मैं भोजन कैसे पकाता? पहले ही स्पष्ट बता जाते तो मैं चारों ओर मारा-मारा फिर कर ये सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करने की फालतू मेहनत तो न करता।

लकड़हारों के चेहरे क्रोध से लाल सुर्ख हो उठे- इस भारी थकान और भूख के बावजूद खाना भी तैयार नहीं है, अब तो वे लकड़ियों के गठ्ठर लेकर एक कदम भी चल न पायेंगे। अच्छे मूर्ख साथी से

पाला पड़ा, जो समझाने के बाद भी आग के भेद को समझ न पाया। उस मूर्ख साथी को और अधिक वे क्या कहते? एक समझदार लकड़हारे ने कहा- इतना वज्र मूर्ख निकला तू? इतना भी नहीं जानता की अरणि की लकड़ी से अग्नि कैसे उत्पन्न की जाती है? यदि नहीं ही जानता था तो उसी समय हमसे पूछ लेना था, जिससे यह कठिन परिस्थिति तो हमें नहीं झेलनी पड़ती। अब देख कि इस अरणि में आग कहाँ होती है और कैसे उसे प्रकट करना होता है?

तब उस लकड़हारे ने अरणि की लकड़ी के दो टुकड़े उठाये और उन्हें एक-दूसरे से रगड़ा। रगड़ खाने के बाद बीच में से चिनगारियाँ उठने लगी। उसने सूखी लकड़ियों पर वे चिनगारियाँ डाली तथा धीरे-धीरे उन्हें हवा दी। जब आग फैलने लगी तो उसमें और लकड़ियाँ डाली, जिससे आग जल उठी। सबने मिलकर उससे खाना पकाया और सबने मिल बैठकर खाया। खाने के बाद वही समझदार लकड़हारा बोला- अरणि की लकड़ी के छिलके-छिलके और रेशे-रेशे में आग मौजूद होती है परन्तु वह मूर्ख को दिखाई नहीं देती, क्योंकि वह इन आँखों से दृश्यमान नहीं होती- उसे प्रयत्न करके इसी लकड़ी में से प्रकट करना होता है

और वह प्रयत्न होता है- संघर्षण। यह आग संघर्षण से प्राप्त होती है किन्तु अरणि से भिन्न अन्य वस्तु में नहीं। आग तो अरणि में ही होती है जो उसे छील-छील कर नहीं पाई जा सकती।

उस साथी को तब भी आग का भेद अच्छी तरह समझ में नहीं आया, उसने पूछा- अरणि की लकड़ी में रही हुई यह आग दिखाई क्यों नहीं देती? नहीं दिखाई देती तो विश्वास कैसे किया जाये कि उसमें आग होती है? कोई भी सामान्य जन उसमें आग की संभावना कैसे मान सकता है? आपने मुझे मूर्ख कह दिया सो ठीक, लेकिन क्या मेरे सिवाय इस दुनिया में सभी बुद्धिमान हैं? आग होती है तो आँखों से भी दिखाई देनी चाहिये न?

यह समझने की बात है साथी, कि जो कुछ हम जानते हैं यह नहीं है कि वह सब आँखों से दिखाई ही दे। क्या तुमको वायु का स्पर्श समझ में नहीं आता? अवश्य आता है, परन्तु क्या वह वायु आँखों से दिखाई देती है? न दिखाई देते हुए भी सभी यह जानते हैं वायु समस्त वातावरण में फैली हुई है तथा उसी के माध्यम से सभी प्राणियों का जीवन चलता है। इसी प्रकार अग्नि भी इस अरणि में रही हुई है, पर वह इन

आँखों से दिखाई नहीं देती। ज्ञान के प्रकाश में हम जानते हैं कि अरणि की लकड़ी में से अग्नि को कैसे प्रकट एवं प्रदीप्त करें?

इस ज्ञान को कैसे प्राप्त किया जाता है? जो आँखों से दृष्टव्य न हो, उसे कैसे जाना जाता है?

मित्र! प्रयोग और अनुभव से अरणि की लकड़ी में अग्नि की खोज कैसे हुई? कभी कहीं वायु वेग अथवा किसी भी प्रकार से अरणि की दो लकड़ियाँ आपस में रगड़ खा गई होगी और उनसे आग की चिनगारियाँ उठी होगी- इस प्रक्रिया को किसी विवेक-सम्पन्न मनुष्य ने देख लिया होगा। फिर उसने उन लकड़ियों को आपस में रगड़-रगड़ कर बार-बार प्रयोग किये होंगे। जब उसे स्पष्ट हो गया कि अरणि की लकड़ियों को रगड़ने से अग्नि अवश्यमेव उत्पन्न होती है? तब उसने अपना अनुभव अन्य साथियों को बताया होगा एवं इस प्रकार अरणि से अग्नि की खोज का ज्ञान व्यापक रूप से सब ओर हुआ होगा। इस ज्ञान के पश्चात् आँखों से अरणि में अग्नि खोजने की आवश्यकता नहीं रही। उसके बाद से जो जब भी चाहे, संघर्षण की प्रक्रिया से अरणि में से अग्नि को प्रकट कर सकता है।

गुरु ने शिष्य को प्रतिबोध दिया- हे देवानुप्रिय! अरणि और अग्नि के समान ही शरीर और आत्मा का स्वरूप है। इस शरीर को छेदने, भेदने या काटने से इसके किसी भी भाग में इन आँखों से आत्मा नहीं दिखाई देगी। किन्तु ज्ञान का यह प्रकाश प्राप्त होगा कि इसी शरीर में आत्मा का निवास है किन्तु साधना की विशेष प्रक्रिया के माध्यम से ही उस आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति ली जा सकती है, तभी भीतरी दृष्टि उस आत्मा के स्वरूप को जानकर अभिव्यक्त कर सकेगी।

किन्तु एक जिज्ञासा है, भगवन्! शिष्य ने करबद्ध होकर निवेदन किया- अरणि में अग्नि है, यह सत्य है, किन्तु वह अग्नि उस अरणि के टुकड़े, छिलके या रेशे कर देने पर नहीं मिलती- वह उनका घर्षण करने पर मिलती है, यह भी सत्य है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा की घर्षण प्रक्रिया क्या एवं कैसी होती है?

सुनो शिष्य! शरीर में आत्मा है, यह परम सत्य है। किन्तु उसके दर्शन के लिये ज्ञान और चिन्तन की आवश्यकता होती है। इसके लिये दो विपरीत तत्वों का संघर्षण करना होता है, जैसे स्वभाव एवं विभाव का

संघर्षण, शुभता एवं अशुभता का संघर्षण और अन्ततः आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का संघर्षण। यह संघर्षण की प्रक्रिया विचार मंथन से उग्रतर होती जाती है, जिसके बाद शरीर के कण-कण में सन्निहित आत्मतत्व की ज्योति अभिव्यक्त होती है। सुदक्ष अभ्यास एवं निरन्तर साधना से यह अभिव्यक्ति स्पष्टतर बनती रहती है तथा एक दिन वह आत्मज्योति पूर्ण प्रखरता के साथ शरीर सम्बन्ध का विच्छेद कर सदाकाल के लिये पूर्ण प्रकाशमय बन जाती है।

स्रोत- राजप्रश्नीय सूत्र।

सार- आत्मा का अस्तित्व एवं व्यक्तिकरण अरणि की अग्नि के समान ज्ञान व अनुभूति का विषय होता है।

❖ ❖ ❖